शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

फाल्गुन-चैत्र २४८१ वर्ष दसवाँ अंक ११-१२

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

क्रमबद्धपर्याय-प्रवचन

प्रथम भाग

[प्रवचन संख्या आठ]

[१११-२०]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

इस अंक का मूल्य : एक रुपया

एक अंक चार आना

जैन स्वाध्यायमन्दिर : सोनगढ़ सौराष्ट्र

इस अंक के बारे में—

यह विशेषांक विलंब से पहुँच रहा है। इसके बारे में विशेष लिखने से पूर्व हम अपने प्रिय पाठकों से क्षमा चाहते हैं; परिस्थिति से विवश होने से इस अंक के प्रकाशन में देरी होती रही।

'क्रमबद्धपर्याय—प्रवचन, प्रथम भाग' 'आत्मधर्म' के [गुजराती] कार्तिक मास के अंक नं० १३३ में प्रकाशित हो गया था और सोचा था कि साथ ही साथ हिन्दी-भाषी पाठकों की सुविधा के लिये हिन्दी में भी शीघ्र प्रकाशित किया जाय; लेकिन सर्वप्रथम इसके लिये जो टाइप पसंद किया गया, उसके आने में विलंब हुआ तथा कुछ ऐसे विशेष टाइप रहे जो शीघ्र नहीं आये। दूसरी बात यह रही कि पृष्ठ-संख्या की अधिकता से मुद्रण-कार्य में भी विलंब होता रहा। इन कारणों से यह विशेषांक निश्चित अवधि से भी बहुत समय के पश्चात् प्रकाशित कर रहे हैं; जिसका हमें दु:ख है। लेकिन अनेक कठिनाईयों के बीच भी अंक को सुंदर बनाने का प्रयत्न कर सके हैं, जिसका मूल्यांकन तो पाठक स्वयं करेंगे; इस आत्म-संतोष के साथ पुन: क्षमाप्रार्थी हैं।

भविष्य में नियमितरूप से अंक प्रकाशित होते रहेंगे।

—प्रकाशक

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्धपर्याय का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण

और

अनेक प्रकार की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

[समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन]

पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनों में अखण्डरूप से एक बात पर खास भार दिया है कि—ज्ञायक के समक्ष दृष्टि रखकर ही इस क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले की दृष्टि काल के समक्ष नहीं होती, किन्तु ज्ञायकस्वभाव पर होती है। ज्ञायक सन्मुख की दृष्टि के अपूर्व पुरुषार्थ के बिना वास्तव में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता और न उसे निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है। यह बात प्रत्येक मुमुक्षु को लक्ष में रखने योग्य है।

भाई रे! यह मार्ग तो मुक्ति का है या बन्धन का? इसमें तो ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके मुक्ति की बात है; इस बात का यथार्थ निर्णय करने से ज्ञान पृथक् का पृथक् रहता है। जो मुक्ति का मार्ग है, उसके बहाने कोई स्वच्छन्द की पुष्टि करता है अथवा उसे ''छूत की बीमारी'' कहता है, उस जीव को मुक्ति का अवसर कब मिलेगा? *[-पूज्य गुरुदेव]*

❀ कुन्दकुन्द भगवान के मूल सूत्र ❀

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह॥३०८॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि॥३०९॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि णकिंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ॥३१०॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा॥३११॥

अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत्। एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्ध्यति, सर्व द्रव्यणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्धयति, तद्सिद्धौ च कतृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्ध्यति। अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते।

मूल गाथाओं का हिन्दी अनुवाद

जो द्रव्य उपजे जिन गुणो से, उनसे जान अनन्य वो।
है जगत में कटकादि, पर्यायों से कनक अनन्य ज्यों॥३०८॥
जीव-अजीव के परिणाम जो, शास्त्रों विषैं जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणाम से॥३०९॥
उपजै न आत्मा कोइ से, इससे न आत्मा कार्य है।
उपजावता नहिं कोइ को, इससे न कारण भी बने॥३१०॥
रे कर्मआश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतार के।
आश्रित हुवे उपजे नियम से, अन्य नहिं सिद्धि दिखै॥३११॥

टीका का हिन्दी अनुवाद

प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इसप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार (कंकन आदि परिणामों से उत्पन्न ऐसे) सुवर्ण का कंकनादि परिणामों के साथ तादात्म्य है, उसीप्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणमों के साथ तादात्म्य है। इसप्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसे अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है; वह (कार्यकारणभाव) सिद्ध न होने से, अजीव को जीव का कर्मपना सिद्ध नहीं होता; और वह (अजीव को जीव का कर्मपना) सिद्ध न होने से, कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षरूप से (-अन्य द्रव्य से निरपेक्षरूप से स्वद्रव्य में ही) सिद्धि होने से जीव को अजीव का कर्तापना सिद्ध नहीं होता; इसलिये जीव अकर्ता

सिद्ध होता है। [—समयसार गुजराती दूसरी आवृत्ति]

(यह प्रवचन समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका के हैं; मूल गाथा तथा टीका में भरे हुए गम्भीर रहस्य को पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनों में अत्यंत स्पष्टरूप से समझाया है।)

पहला प्रवचन

[आश्विन कृष्णा १२, वीर सं. २४८०]

(१) अलौकिक गाथा और अलौकिक टीका

यह गाथायें अलौकिक हैं और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका भी ऐसी ही अलौकिक की है। टीका में क्रमबद्धपर्याय की बात करके तो आचार्यदेव ने जैन-शासन का नियम और जैन-दर्शन का रहस्य भर दिया है। भगवान आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है, वह तो ज्ञाता-दृष्टापने का ही कार्य करता है। कहीं फेरफार करे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है और राग को भी बदलने का उसका स्वभाव नहीं है; राग का भी वह ज्ञायक है। जीव और अजीव सर्व पदार्थों की त्रिकाल की अवस्थायें क्रमबद्ध होती हैं, आत्मा उनका ज्ञायक है-ऐसा ज्ञायक आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है।

(२) जीव-अजीव के क्रमबद्ध परिणाम और आत्मा का ज्ञायकस्वभाव

(टीका) ''जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एक नाजीवः; एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एक न जीवः.....''

आचार्यदेव कहते हैं कि — 'प्रथम तो' अर्थात् सर्व प्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि जीव क्रमबद्ध-क्रमनियमित ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इस प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है। देखो, यह महान सिद्धान्त! जीव या अजीव प्रत्येक वस्तु में क्रमबद्धपर्याय होती है, उसमें उल्टा-सीधा होता ही नहीं। आजकल अनेक पण्डित और त्यागी आदि लोगों में इसके सामने बड़ा विरोध उठा है, क्योंकि इस बात का निर्णय करने जायें तो अपना अभी तक का माना हुआ कुछ भी नहीं रहता। संवत् २००३ में (प्रवचन-मण्डप के उद्घाटन प्रसंग पर) सर सेठ हुकमचन्दजी

इन्दौरवालों के साथ पण्डित देवकीनन्दनजी आये थे, उन्हें जब यह बात बतलायी, तब वे बड़े आश्चर्यचकित हुए थे कि अहो! ऐसी बात!! यह बात अभी तक हमारे लक्ष में नहीं आयी थी। छहों द्रव्यों में उनकी त्रिकाल की प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियमित है। जगत में अनन्त जीव हैं और जीव की अपेक्षा अनन्तगुने अजीव हैं; वे सब द्रव्य अपने-अपने क्रम-नियमित परिणाम से उत्पन्न होते हैं। जिस समय जिस पर्याय का क्रम है, वह एक समय भी आगे-पीछे नहीं हो सकती। जो पर्याय १०० नम्बर की हो, वह ९९ नम्बर की नहीं हो सकती और १०० नम्बर की पर्याय १०१ नम्बर की भी नहीं हो सकती है। इस प्रकार प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियमित है और समस्त द्रव्य क्रमबद्धपर्याय से परिणमित होते हैं। अपने स्वभाव का निर्णय हुआ, वहाँ धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञायक हूँ, मैं किसे बदल सकता हूँ? इसलिए धर्मी के पर को बदलने की बुद्धि नहीं है; राग को भी बदलने की बुद्धि नहीं है, वह राग का भी ज्ञायकरूप से ही रहता है।

(३) सर्वज्ञभगवान 'ज्ञायक' हैं, 'कारक' नहीं हैं

पहले तो ऐसा निर्णय करना चाहिए कि इस जगत में ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं कि जिनके आत्मा का ज्ञानस्वभाव पूर्ण विकसित हो गया है, और मेरा आत्मा भी ऐसा ही ज्ञानस्वभावी है। जगत के समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं; पदार्थ की तीनों काल की पर्यायों का क्रम निश्चित है; सर्वज्ञदेव ने तीन काल-तीन लोक की पर्यायें जानी हैं। जो सर्वज्ञ ने जाना, वह बदल नहीं सकता, तथापि सर्वज्ञदेव ने जाना, इसलिए वैसी अवस्था होती है - ऐसा भी नहीं है। सर्वज्ञभगवान तो ज्ञायक प्रमाण हैं, वे कहीं पदार्थों के कारक नहीं हैं; कारकरूप तो पदार्थ स्वयं ही है, प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही अपने छह कारकोंरूप होकर परिणमित होता है।

(४) क्रमबद्धपर्याय की झंकार

आचार्यदेव पहले से ही क्रमबद्धपर्याय की झंकार करते आ रहे हैं :—

'जीव पदार्थ कैसा है' उसका वर्णन करते हुए दूसरी गाथा में कहा था कि 'क्रमरूप और अक्रमरूप वर्तते हुए अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण-पर्यायें अंगीकार की हैं।' पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होता है। — ऐसा कहकर वहाँ जीव की क्रमबद्धपर्याय की बात बतला दी है।

तत्पश्चात् ६२ वीं गाथा में कहा है कि — 'वर्णादिक भाव, अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियों (पर्यायों) द्वारा पुद्गलद्रव्य के साथ रहते हुए,

पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रगट करते हैं।' यहाँ 'अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव' प्राप्त करना कहकर अजीव की क्रमबद्धपर्याय बतला दी है।

कर्ता-कर्म अधिकार में भी गाथा ७६-७७-७८ में प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य — ऐसे तीन प्रकार के कर्म की बात करके क्रमबद्धपर्याय की बात जमा दी है। 'प्राप्य' अर्थात्, द्रव्य में जिस समय जो पर्याय नियमित है, उस क्रमबद्धपर्याय को उस समय वह द्रव्य प्राप्त करता है-पहुँच जाता है, इसलिए उसे 'प्राप्यकर्म' कहा जाता है।

(५) ज्ञायकस्वभाव समझे, तभी क्रमबद्धपर्याय समझ में आती है

देखो, इसमें ज्ञायकस्वभाव की ओर से लेना है। ज्ञायक की ओर से ले, तभी यह क्रमबद्धपर्याय की बात यथार्थ समझ में आ सकती है। जो जीव, पात्र होकर अपने आत्मा के लिये समझना चाहता हो, उसे यह बात यथार्थरूप से समझ में आ सकती है। दूसरे हठी जीव तो इसे समझे बिना विपरीत ग्रहण करते हैं और ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ छोड़कर क्रमबद्धपर्याय के नाम से अपने स्वच्छन्द की पुष्टि करते हैं। जिसे ज्ञान की श्रद्धा नहीं है, केवली की प्रतीति नहीं है, अन्तर में वैराग्य नहीं है, कषाय की मन्दता भी नहीं है, स्वच्छन्दता छूटी नहीं है और क्रमबद्धपर्याय का नाम लेता है—ऐसी हठी-स्वच्छन्दी जीव की यहाँ बात नहीं है। जो इस क्रमबद्धपर्याय को समझ ले, उसे स्वच्छन्द रह ही नहीं सकता, वह तो ज्ञायक हो जाता है। भगवान! क्रमबद्धपर्याय समझाकर हम तो तुझे अपने ज्ञायक आत्मा का निर्णय कराना चाहते हैं और यह बतलाना चाहते हैं कि आत्मा, पर का अकर्ता है। यदि अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय नहीं करेगा तो तू क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है।

जीव और अजीव समस्त पदार्थों की तीनों काल की पर्यायें क्रमबद्ध हैं—उन सबको जाना किसने? सर्वज्ञदेव ने।

'सर्वज्ञदेव ने ऐसा जाना' — इस प्रकार सर्वज्ञता का निर्णय किसने किया? — अपनी ज्ञानपर्याय ने।

वर्तमान ज्ञानपर्याय अल्पज्ञ होने पर भी, उसने सर्वज्ञता का निर्णय किसके समक्ष देखकर किया? - ज्ञानस्वभाव की ओर देखकर वह निर्णय किया है।

इस प्रकार जो जीव अपने ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ करता है, उसी को क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है, और वह जीव, पर का तथा राग का अकर्ता होकर ज्ञायकभाव

का ही कर्ता होता है। ऐसे जीव को ज्ञानस्वभाव के निर्णय में पुरुषार्थ, स्वकाल आदि पाँचों समवाय एकसाथ आ जाते हैं।

(६) इसमें ज्ञायकस्वभाव का पुरुषार्थ है, इसलिए यह नियतवाद नहीं है

प्रश्न : गोम्मटसार में तो नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है न ?

उत्तर : गोम्मटसार में जो नियतवाद कहा है, वह तो स्वच्छन्दी का है; जो जीव, सर्वज्ञ को नहीं मानता, ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं करता, अन्तरोन्मुख होकर समाधान नहीं किया है, विपरीत भावों के उछाले कम भी नहीं किये हैं, और 'जैसा होना होगा वैसा होगा' — ऐसा कहकर मात्र स्वच्छन्दी होता है और मिथ्यात्व का पोषण करता है, ऐसे जीव को गोम्मटसार में गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है; किन्तु ज्ञानस्वभाव के निर्णयपूर्वक यदि इस क्रमबद्धपर्याय को समझे तो ज्ञायकस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ द्वारा मिथ्यात्व और स्वच्छन्द छूट जाये।

(७) भय का स्थान नहीं किन्तु भय के नाश का कारण

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करते हुए शायद स्वच्छन्दी हो जायेंगे — ऐसा भय है, इसलिए ऐसे भयस्थान में किसलिए जाना चाहिए ?

उत्तर : अरे भाई! क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना अर्थात् अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना, वह कहीं भय का कारण नहीं है; वह तो स्वच्छन्द के नाश का और निर्भयता का होने का कारण है। ज्ञानसवभाव की प्रतीति के बिना, मैं पर को बदल दूँ—ऐसी कर्ताबुद्धि से स्वच्छन्दी हो रहा है, उसके बदले पदार्थों की पर्याय उनके अपने से ही क्रमबद्ध होती है, मैं उसका कर्ता या बदलनेवाला नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ—ऐसी प्रतीति होने से स्वच्छन्द छूटकर, स्वतन्त्रता का अपूर्व भान होता है। यह क्रमबद्धपर्याय की समझ, भय का स्थान नहीं है; भय तो मूर्खता और अज्ञान में होता है, यह तो भय के और स्वच्छन्द के नाश का कारण है।

(८) 'ज्ञायकपना' ही आत्मा का परम स्वभाव है

आत्मा ज्ञायक वस्तु है, ज्ञान ही उसका परम स्वभाव-भाव है। 'ज्ञायकपना' आत्मा का परम भाव है, वह स्व-पर के ज्ञातृत्व के सिवा दूसरा क्या कर सकता है ? जैसा 'है' और जैसा 'होता है' उसका वह ज्ञाता है। द्रव्य और गुण, वह त्रिकाल सत् और पर्याय, वह एक-एक समय का सत्, उस सत् का आत्मा ज्ञाता है, किन्तु किसी पर का उत्पादक, नाशक या उसमें फेरफार करनेवाला नहीं है। यदि उत्पन्न करना, नाश करना या फेरफार करना माने तो वहाँ ज्ञायकभावपने

की प्रतीति नहीं रहती। इसलिए जो ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता और पर में फेरफार करना मानता है, उसे ज्ञायकत्व नहीं रहता किन्तु मिथ्यात्व हो जाता है।

(९) ''छूत का रोग'' नहीं किन्तु वीतरागता का कारण

कुछ लोग कहते हैं कि आजकल क्रमबद्धपर्याय नामक 'छूत का रोग' फैल रहा है। अरे भाई! यह क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति तो वीतरागता का कारण है। जो वीतरागता का कारण है, उसे तू रोग कहता है? क्रमबद्धपर्याय न माने तो वस्तु ही नहीं रहती। क्रमबद्धपर्यायपना तो वस्तु का स्वरूप है; उसे रोग कहना महान विपरीतता है। द्रव्य प्रति समय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है — ऐसा उसका धर्म है; क्रमबद्धपर्याय में जिस समय जिस पर्याय का स्वकाल है, उस समय द्रव्य उसी पर्याय को द्रवित होता है-प्रवाहित होता है, ऐसा ही वस्तुस्वभाव है और अपना स्वभाव ज्ञायक है। ऐसे स्वभाव को मानना, वह रोग नहीं है, किन्तु ऐसे वस्तुस्वभाव को न मानकर फेरफार करना मानना, वह मिथ्यात्व है और वही महान रोग है।

(१०) अमुक पर्यायें क्रम से और अमुक अक्रमरूप होती हैं—ऐसा नहीं है

प्रत्येक द्रव्य की तीनों काल की पर्यायों में क्रमबद्धपना है, उसे जो न माने, वह सर्वज्ञता को नहीं मानता, वह आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता; क्योंकि यदि आत्मा के ज्ञानस्वभाव की यथार्थ प्रतीति करे तो उसमें क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी अवश्य आ जाती है।

यहाँ क्रमबद्धपर्याय का कथन हो रहा है, उसमें अनादि-अनन्त काल की समस्त पर्यायें समझ लेना चाहिए। द्रव्य की अमुक पर्यायें क्रमबद्ध हों और अमुक अक्रम से हों—ऐसे दो भाग नहीं हैं। कोई ऐसा कहे कि—'अबुद्धिपूर्वक पर्यायें तो ज्ञान की पकड़ में नहीं आती, इसलिए वे तो क्रमबद्ध होती हैं, किन्तु बुद्धिपूर्वक की पर्यायों में क्रमबद्धपना लागू नहीं होता, वे तो अक्रमरूप भी हो सकती हैं।' — यह बात सच्ची नहीं है। अबुद्धिपूर्वक की या बुद्धिपूर्वक की कोई भी पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। जड़ और चेतन समस्त द्रव्यों की सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं।

कोई ऐसा कहे कि — 'भूतकाल की पर्यायें तो हो चुकी हैं, इसलिए उनमें कोई फेरफार नहीं हो सकता, किन्तु भविष्य की पर्यायें बाकी हैं, इसलिए उनके क्रम में फेरफार किया जा सकता है।' ऐसा कहनेवाले को भी पर्याय का क्रम बदलने की बुद्धि है, वह पर्यायबुद्धि है।

आत्मा ज्ञायक है, उसकी प्रतीति करने की यह बात है। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो 'मैंने इसका ऐसा किया और उसका वैसा न होने दिया' — ऐसी कर्ताबुद्धि का सब विपरीत मान्यताओं का भुक्का उड़ जाता है अर्थात् विपरीत मान्यता चूरचूर हो जाती है और अकेली

ज्ञायकता रहती है।

(११) ऐसी सत्य बात के श्रवण की भी दुर्लभता

अभी कई जीवों ने तो यह बात सत्समागम से यथार्थतया सुनी भी नहीं है। 'मैं ज्ञान हूँ, जगत की प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है, उसका मैं ज्ञाता हूँ, किन्तु किसी का कहीं बदलनेवाला नहीं हूँ' — ऐसा यथार्थ सत्य, सत्समागम से सुनकर जिसने जाना भी नहीं है; उसे अन्तर में उसकी सच्ची धारणा कहाँ से होगी ? और धारणा बिना उसकी यथार्थ रुचि और परिणमन तो कहाँ से हो ? आजकल यह बात अन्यत्र कहीं सुनने को भी नहीं मिलती। यह बात समझकर उसका यथार्थ निर्णय करनेयोग्य है।

(१२) क्रम और वह भी निश्चित्

'जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः....' यह मूल टीका है, इसके हिन्दी अर्थ में पण्डित जयचन्द्रजी ने ऐसा लिखा है कि — 'जीव प्रथम ही क्रमकर निश्चित अपने परिणामोंकर उत्पन्न हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है।' क्रम तो है ही, और वह भी नियमित, अर्थात् इस द्रव्य में इस समय ऐसी ही पर्याय होगी - यह भी निश्चित है।

कोई ऐसा कहे कि — 'पर्याय क्रमबद्ध है अर्थात् वह एक के बाद एक क्रमशः होती है- यह ठीक है, किन्तु किस समय कैसी पर्याय होगी, वह निश्चित नहीं है' — तो यह बात सत्य नहीं है। क्रम और वह भी निश्चित है; किस समय की पर्याय कैसे होना है, वह भी निश्चित है। यदि ऐसा न हो तो सर्वज्ञ ने जाना क्या ?

अहो ! यह क्रमबद्धपर्याय की बात जिसकी प्रतीति में आये, उसके ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होकर मिथ्यात्व का और अनन्तानुबन्धी कषाय का नाश हो जाता है; उसके स्वच्छन्दता नहीं किन्तु स्वतन्त्रता होती है। निर्मानता, निर्मोहता, पवित्रता जीवन में प्रगट करना हो तो ऐसे ज्ञायकभाव का निश्चय प्रथम से ही होना चाहिए।

(१३) ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ और उसमें एक साथ पाँच समवाय

अज्ञानी कहते हैं कि —'इस क्रमबद्धपर्याय को मानें तो पुरुषार्थ उड़ जाता है'—किन्तु ऐसा नहीं है। इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने से कर्ताबुद्धि का मिथ्याभिमान उड़ जाता है और निरन्तर ज्ञायकपने का सच्च पुरुषार्थ होता है। ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ न करे, उसके क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी सच्चा नहीं है। ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके, जहाँ

पर्याय, स्वसन्मुख हुई, वहाँ एक समय में उस पर्याय में पाँचों समवाय आ जाते हैं। नाटक समयसार में पण्डित बनारसीदासजी भी कहते हैं कि—

टेक डारि एकमैं अनेक खोजै सो सुबुद्धि,
खोजी जीवे वादी मरै सांची कहवति है ॥४५॥

दुराग्रह को छोड़कर एक में अनेक धर्मों को ढूँढ़ना सम्यग्ज्ञान है। इसलिए संसार में जो कहावत है कि 'खोजी पावे वादी मरे' सो सत्य है।

पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्म का अभाव – यह पाँचों समवाय एक समय की पर्याय में आ जाते हैं।

(१४) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा और गोम्मटसार के कथन की सन्धि

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में गाथा ३२१-२२-२३ में स्पष्ट कहा है कि जिस समय जैसा होना सर्वज्ञदेव ने देखा है, उस समय वैसा ही होगा, उसे बदलने में कोई समर्थ नहीं है।—जो ऐसा श्रद्धान करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें शंका करता है, वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है, उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है।

जो जीव ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं करता और मात्र क्रमबद्धपर्याय का नाम लेकर स्वच्छन्द से विषय-कषाय का पोषण करता है, उसे गोम्मटसार में गृहीतमिथ्यादृष्टि गिना है; किन्तु ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके जो जीव, क्रमबद्धपर्याय को मानता है, उस जीव को कहीं भी मिथ्यादृष्टि नहीं कहा है।

(१५) एक बार... यह बात तो सुन!

अहो, आत्मा का ज्ञानस्वभाव, जिसमें भव नहीं है; उसका जिसने निर्णय किया, वह क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, उसे भेदज्ञान हुआ, उसने केवली को यथार्थरूप से माना! प्रभु! ऐसा ही वस्तुस्वरूप है और ऐसा ही तेरा ज्ञानस्वभाव है। एक बार आग्रह छोड़कर अपनी पात्रता और सज्जनता लाकर यह बात तो सुन।

(१६) राग की रुचिवाला क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं

प्रश्न : आप कहते हैं कि क्रमबद्धपर्याय होती है, तो फिर क्रमबद्धपर्याय में जो राग होना होगा, वह होता है ?

उत्तर : भाई! तेरी रुचि कहाँ अटकी है ? तुझे ज्ञान की रुचि है या राग की ? जिसे ज्ञानस्वभाव की रुचि और दृष्टि हुई है, वह तो फिर अस्थिरता के अल्पराग का भी ज्ञाता ही है; और

'जो राग होना था, वह हुआ'—ऐसा कहकर जो राग की रुचि नहीं छोड़ता, वह तो स्वच्छन्दी-मिथ्यादृष्टि है। जो यह क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझे, उसकी तो दृष्टि पलट जाती है।

(१७) उल्टा प्रश्न - 'निमित्त न आये तो..... ?'

''ऐसा निमित्त आये तो ऐसा होता है, और निमित्त न आये तो नहीं होता''—इस प्रकार जिनके निमित्ताधीन दृष्टि है, उन्हें क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ प्रतीति नहीं है। 'क्रमबद्धपर्याय होना हो किन्तु निमित्त न आये तो ?' वह प्रश्न ही उल्टा है। क्रमबद्धपर्याय में जिस समय जो निमित्त है, वह भी निश्चित ही है; निमित्त न हो, ऐसा होता ही नहीं।

(१८) दो नयी बातें! समझे उसका कल्याण

एक तो नियमसार की 'कारणशुद्धपर्याय' की बात, और दूसरी यह 'क्रमबद्धपर्याय' की बात।—यह दो बातें सोनगढ़ से नयी निकली हैं—ऐसा कई लोग कहते हैं; लोगों में आजकल यह बात प्रचलित नहीं है, इसलिए नयी मालूम होती है। शुद्धकारणपर्याय की बात सूक्ष्म है, और दूसरी यह क्रमबद्धपर्याय की बात सूक्ष्म है-यह बात जिसे जम जाये, उसका कल्याण हो जाता है! यह एक क्रमबद्धपर्याय की बात बराबर समझे तो उसमें निश्चय-व्यवहार और उपादान-निमित्त आदि सब स्पष्टीकरण आ जाते हैं। वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध और मैं उसका ज्ञायक-यह समझने से सब समाधान हो जाते हैं। भगवान! अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर तू पर के करने की मान्यता में रुक गया ? पर में तेरी प्रभुता या पुरुषार्थ नहीं है; इस ज्ञायकभाव में ही तेरी प्रभुता है, तेरा प्रभु तेरे ज्ञायकमन्दिर में विराजमान है, उसके सन्मुख हो और उसकी प्रतीति कर।

(१९) आत्मा अनादि से ज्ञायकभावरूप ही रहा है

जगत में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक का प्रत्येक जीव और अनन्त सिद्ध भगवान, और अनन्तानन्त परमाणुओं में प्रत्येक परमाणु—वे सब क्रमबद्धरूप से परिणमित हो ही रहे हैं, मैं उनमें क्या बदल सकता हूँ ? मैं तो ज्ञायक हूँ—ऐसा जो निर्णय करे, उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, वह अनादि-अनन्त जानने का ही कार्य करता है। आत्मा तो अनादिकाल से ज्ञायकभावरूप ही रहा है, किन्तु अज्ञानी को मोह द्वारा वह अन्यथा अध्यवसित हुआ है—यह बात प्रवचनसार की २०० वीं गाथा में कही है। आत्मा तो ज्ञायक होने पर भी, अज्ञानी उसकी प्रतीति नहीं करता और 'मैं पर का कर्ता हूँ'—ऐसा मोह द्वारा अन्यथा मानता है।

(२०) कथंचित् क्रम-अक्रमपना किस प्रकार है ?

कोई ऐसा कहता है कि—'जीव की पर्याय में कुछ क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमरूप हैं; तथा शरीरादि अजीव की पर्याय में भी कुछ क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमरूप हैं।'—वह सारी बात वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय से विपरीत है, ज्ञानस्वभाव से विपरीत है और केवली से भी विपरीत है अर्थात् सूत्र से भी विपरीत है। वस्तु में ऐसा क्रम-अक्रमपना नहीं है किन्तु पर्याय अपेक्षा से क्रमबद्धपना; और गुण सहवर्ती हैं, उस अपेक्षा से अक्रमपना—इस प्रकार वस्तु क्रम-अक्रमरूप है।

(२१) केवली को मानता है, वह कुदेव को नहीं मानता

कोई ऐसा कहता था कि—'जैसा केवली ने देखा, वैसा हुआ है; इसलिए जो फिरका (सम्प्रदाय) मिला और जैसे गुरु मिले, (वे भले ही मिथ्या हों, तथापि), उनमें फेरफार करने की उतावल नहीं करना चाहिए; क्योंकि कुदरत के नियम में वैसा आया है, इसलिए उसे बदलना नहीं चाहिए।'

—किन्तु भाई! तुझे केवलज्ञान का विश्वास हो गया है? और कुदरत का नियम अर्थात् वस्तुस्वरूप जम गया है? जिसे केवलज्ञान का विश्वास हो गया है और वस्तुस्वरूप समझ में आ गया, उसके अन्तर में गृहीतमिथ्यात्व रहता ही नहीं; कुधर्म को या कुगुरु को माने—ऐसा क्रम उसके होता ही नहीं। इसलिए सम्यक्त्वी जीव, कुधर्म-कुगुरु का त्याग करे तो उससे कहीं उसके पर्याय की क्रमबद्धता टूट जाती है—ऐसा नहीं है। सच्चे पुरुषार्थ में निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है।

(२२) ज्ञायकस्वभाव

जो द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न हो-अर्थात् जिस पर्यायरूप से परिणमित हो, उसी के साथ वह तन्मय है। अहो! द्रव्य स्वयं उस-उस पर्याय के साथ तन्मय होकर परिणमित हुआ है, वहाँ दूसरा कोई उसे क्या करेगा? आत्मा तो परमपारिणामिकस्वभावरूप ज्ञायक है; ज्ञायकभावरूप रहना ही उसका स्वभाव है। ऐसे स्वभाव का निर्णय किया, वहाँ स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ से शुद्धपर्याय होती जाती है।

(२३) ''क्रमबद्ध को नहीं मानता, वह केवली को नहीं मानता''

'बस! जैसा निमित्त आये, वैसी पर्याय होती है; हम क्रमबद्ध को नहीं मानते'—ऐसा कहनेवाला केवली भगवान को भी नहीं मानता, और वास्तव में वह आत्मा को भी नहीं मानता। क्रमबद्धपर्याय का अस्वीकार करना, वह ज्ञानस्वभाव का ही अस्वीकार करने जैसा है। भाई! यह क्रमबद्धपर्याय कहीं किसी के घर की कल्पना नहीं है, किन्तु वस्तु के घर की बात है; वस्तु का ही

स्वरूप ऐसा है। कोई न माने तो उससे कहीं वस्तु का स्वरूप नहीं बदल सकता।

(२४) ज्ञानस्वभाव की ओर पुरुषार्थ को मोड़े बिना क्रमबद्धपर्याय समझ में नहीं आती

'शुभ-अशुभभाव भी जैसे क्रमबद्ध थे, वैसे आये;' ऐसा कहकर जो जीव, राग के पुरुषार्थ में ही अटक रहा है और ज्ञानस्वभाव की ओर पुरुषार्थ को नहीं मोड़ता, वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है, किन्तु मात्र बातें करता है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से राग की रुचि छूट जाती है और तभी क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय होता है। भाई! तू किसके समक्ष देखकर क्रमबद्धपर्याय मानता है? जिसने ज्ञायकस्वभाव की ओर देखकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया, वह राग का भी ज्ञाता ही हो गया है; यह राग बदलकर इस समय ऐसा राग करूँ, इस प्रकार राग को बदलने की बुद्धि में से उसका वीर्य हट गया और ज्ञानस्वभाव की ओर ढल गया; उसके राग दूर होने का क्रम चालू हो गया है; वर्तमान साधकदशा हुई है और उसी पुरुषार्थ से क्रमबद्धपर्याय के क्रम में अल्प काल में केवलज्ञान भी आयेगा, उसका पुरुषार्थ चल रहा है। ज्ञानी को क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में स्वभाव की दृष्टि से प्रयत्न चालू ही है, वह ज्ञान की अधिकतारूप ही, अर्थात् भूतार्थ के आश्रित ही परिणमित होता है; उसमें न उतावल है और न प्रमाद है। प्रवचनसार की २०२ वीं गाथा में पण्डित हेमराजजी कहते हैं कि—विभावपरिणति को छूटता न देखकर सम्यग्दृष्टि जीव आकुल-व्याकुल भी नहीं होता और समस्त विभाव-परिणति को टालने का पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता; भूतार्थस्वभाव का आश्रय करके वर्तता है, उसमें उसे पुरुषार्थ बना ही रहता है। एक साथ पाँचों समवाय उसमें आ जाते हैं।

(२५) अपने-अपने अवसरों में प्रकाशमान रहते हैं...

प्रवचनसार गाथा ९९ 'सदवट्ठिदं सहावे दव्वं.....' इत्यादि में आचार्यदेव ने क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त अलौकिक रीति से रख दिया है। हार के मोती के दृष्टान्त से, द्रव्य के परिणाम अपने-अपने अवसरों में प्रकाशमान रहते हैं—यह बात समझाकर क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप एकदम स्पष्ट कर दिया है; और एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव होने पर भी, उन तीनों का भिन्न-भिन्न लक्षण है—नाश अर्थात् व्यय, नष्ट होनेवाले भाव के आश्रित है; उत्पाद, उत्पन्न होनेवाले भाव के आश्रित है और ध्रौव्य, स्थित रहनेवाले भाव के आश्रित हैं।—इस प्रकार प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहकर उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की साँकल बना दी है। *(देखो, गाथा-१०१)*

(२६) 'सत्' और उसे जाननेवाला ज्ञानस्वभाव

अहो! भगवन्तों ने जंगल में निवास करके; अपने ज्ञान में वस्तुस्वरूप को ग्रहण करके तादृश वर्णन किया है। एक ओर सम्पूर्ण सत् का ज्ञेय पिण्ड जगत में पड़ा है और दूसरी ओर उसे जाननेवाला ज्ञानस्वभाव है। महासत्ता सत्, अवान्तरसत्ता सत्, जड़-चेतन प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल सत् और उसकी प्रत्येक समय की पर्याय भी क्रमबद्धप्रवाह में उसके अपने स्वकाल से सत्, और इन सबको जाननेवाली ज्ञानपर्याय भी सत्।—इस प्रकार सब क्रमबद्ध और व्यवस्थित सत् है। जहाँ उसका निर्णय किया, वहाँ अपने को ज्ञातृत्व ही रहा और कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि दूर हो गयी। सत् का ज्ञाता न रहकर, उस सत् को बदलना चाहे, वह मिथ्याबुद्धि है।

(२७) ज्ञानस्वभाव के निर्णय में पाँचों समवाय आ जाते हैं

समस्त पर्यायें तो क्रमबद्ध ही हैं, किन्तु उसका निर्णय कौन करता है? ज्ञाता का ज्ञान ही उसका निर्णय करता है। जिस ज्ञान ने ऐसा निर्णय किया, उसने अपना (ज्ञानस्वभाव का) निर्णय भी साथ ही कर लिया है। जहाँ स्वभावसन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया वहाँ—

(१) स्वभाव की ओर का सम्यक् '**पुरुषार्थ**' आया,

(२) जो शुद्धता प्रगट हुई है, वह स्वभाव में से हुई है, इसलिए '**स्वभाव**' भी आया,

(३) उस समय जो निर्मल पर्याय प्रगट होनी थी, वही प्रगटी है, इसलिए '**नियत**' भी आया,

(४) जो निर्मलदशा प्रगट हुई है, वही उस समय का स्वकाल है, इस प्रकार '**स्वकाल**' भी आ गया,

(५) उस समय निमित्तरूप कर्म के उपशमादि स्वयं वर्तते हैं, इस प्रकार '**कर्म**' भी अभावरूप **निमित्तरूप** से आ गया,

—उपरोक्तानुसार स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ में पाँचों समवाय एकसाथ आ जाते हैं।

(२८) उदीरणा—संक्रमणादि में भी क्रमबद्धपर्याय का नियम

कर्म की उपशम, उदीरणा, संक्रमणादि अवस्थाओं का शास्त्र में वर्णन आता है, वह सब अवस्थायें भी क्रमबद्ध ही हैं; शुभभाव से जीव ने असाता प्रकृति का सातारूप से संक्रमण किया—ऐसा कथन आता है, परन्तु वहाँ कर्म की वह अवस्था होना नहीं थी और जीव ने की—ऐसा नहीं है; किन्तु वैसी अवस्था होने के समय जीव के वैसे परिणाम निमित्त होते हैं—ऐसा बतलाया है। सर्वत्र एक ही अबाधित नियम है कि पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है और आत्मा

ज्ञायक है—फेरफार करनेवाला नहीं है। जीव ने शुभभाव किये और कर्म में असाता पलटकर साता हुई, वहाँ उस कर्म की अवस्था में फेरफार तो हुआ है, किन्तु उससे कहीं उसकी अवस्था का क्रम नहीं टूटा है; और जीव ने शुभभाव करके उस अजीव में फेरफार किया—ऐसा भी नहीं है; असाता बदलकर साता हुई, वहाँ ऐसा ही उस अजीव को अवस्था का क्रम था।

(२९) द्रव्य सत्, पर्याय भी सत्

लोग कहते हैं कि—जीव सब छोड़कर चला गया; किन्तु वहाँ उसने कहीं जीवत्व छोड़ा है ? जीव तो जीवरूप रहकर ही अन्यत्र गया है न ! जिस प्रकार जीव, जीवरूप से सत् रहा है; उसी प्रकार उसकी प्रत्येक समय की पर्याय भी उस-उस समय का सत् है, वह बदलकर दूसरे समय की पर्यायरूप नहीं हो जाती।

(३०) ज्ञायक के निर्णय बिना सब पढ़ाई उलटी है

मैं ज्ञान हूँ-ज्ञायक हूँ—ऐसा न मानकर, पर में फेरफार करना मानता है, वह बुद्धि ही मिथ्या है। भाई ! आत्मा ज्ञान है—इस बात के निर्णय बिना तेरी सब पढ़ाई उलटी है; तेरे तर्क और न्याय भी विपरीत हैं। ज्ञानस्वभाव की गम पड़े बिना आगम भी अनर्थकारी हो जाते हैं। शास्त्र में निमित्त से कथन आये, वहाँ अज्ञानी अपनी विपरीतदृष्टि के अनुसार उसका आशय लेकर उलटा मिथ्यात्व का पोषण करता है।

(३१) 'मैं तो ज्ञायक हूँ'

सब जीवों की पर्याय क्रमबद्ध है तो मैं किसे बदल सकता हूँ ? सर्व अजीवों की पर्याय भी क्रमबद्ध है तो मैं किसे पलट सकता हूँ ?—मैं तो ज्ञायक हूँ; ज्ञायकत्व ही मेरा परम स्वभाव है। मैं ज्ञाता ही हूँ, किसी को बदलनेवाला नहीं हूँ। किसी का दु:ख मिटा दूँ या सुखी कर दूँ, यह बात मुझमें नहीं है—इस प्रकार अपने ज्ञायक आत्मा का निर्णय करना, वह सम्यग्दर्शन है।

(३२) अपनी मानी हुई सब बात को बदलकर यह बात समझना पड़ेगी

सोलापुर में अधिवेशन के समय विद्वत् परिषद ने इस क्रमबद्धपर्याय के सम्बन्ध में चर्चा उठायी थी, किन्तु उसका कोई निर्णय नहीं आया; ज्यों का त्यों गीला ही समेट लिया; क्योंकि जो इस बात का निर्णय करने लगें तो, निमित्त के कारण कहीं फेरफार होता है—यह बात नहीं रहती और अभी तक का रटा हुआ सब बदलना पड़ता है। किन्तु वह सब बदलकर, क्रमबद्धपर्याय जिस प्रकार कही जाती है, उसका निर्णय किये बिना किसी प्रकार श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नहीं हो सकते।

(३३) क्रमबद्ध परिणमित होनेवाले ज्ञायक का अकर्तृत्व

आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है; ज्ञान उसका परम स्वभाव है; और ज्ञान के साथ श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्य इत्यादि अनन्त गुण रहते हैं। द्रव्य परिणमित होने से उन समस्त गुणों का क्रमानुसार परिणमन होता है।

आत्मा ज्ञायक है, इसलिए उसका स्वभाव स्व-पर को जानने का है; पर को करे या राग द्वारा पर का कारण हो—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है, और पर उसका कुछ करे या स्वयं पर को कारण बनाये—ऐसा भी स्वभाव नहीं है; इस प्रकार अकारणकार्यस्वभाव है।

यहाँ सर्वविशुद्धान-अधिकार में यह क्रमबद्धपर्याय की बात लेकर आचार्यदेव ने जीव का अकर्तृत्व सिद्ध किया है, अर्थात् जीव ज्ञायक ही है—ऐसा समझाया है। जीव ज्ञानस्वभावी है, उसके अनन्त गुणों की समय-समय की पर्यायें क्रमबद्ध ही उत्पन्न होती हैं और वे जीव के साथ एकमेक हैं। तीन काल की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में ही उत्पन्न होती है, कोई भी पर्याय उलटी-सीधी उत्पन्न नहीं होती।

(३४) पुरुषार्थ का महान प्रश्न

इसमें महान **प्रश्न** यह है कि—'तब फिर पुरुषार्थ कहाँ रहा?'

समाधान—यह निर्णय किया वहाँ मात्र ज्ञातापना ही रहा, इसलिए पर में फेरफार करने की बुद्धि से हटकर पुरुषार्थ का बल, स्वभाव की ओर ढल गया। इस प्रकार ज्ञान के साथ वीर्यगुण (पुरुषार्थ) भी साथ ही है। ज्ञान की क्रमबद्धपर्याय के साथ स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ भी साथ ही वर्तता है; क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ कहीं पृथक् नहीं रह जाता। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके ज्ञान स्वोन्मुख हुआ, वहाँ उसके साथ वीर्य, सुख, श्रद्धा, चारित्र, अस्तित्व इत्यादि अनन्त गुण एक साथ ही परिणमित होते हैं, इसलिए इसमें पुरुषार्थ भी साथ ही है।

(३५) 'ज्ञापक' और 'कारक'

अनादि-अनन्त काल में किस समय किस द्रव्य की कैसी पर्याय है, वह सर्वज्ञदेव ने वर्तमान में प्रत्यक्ष जान लिया है; किन्तु सर्वज्ञदेव ने जाना, इसलिए वे द्रव्य वैसी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं—ऐसा नहीं है; किन्तु उस-उस समय की निश्चित् क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होने का द्रव्यों का ही स्वभाव है। सर्वज्ञ का केवलज्ञान तो 'ज्ञापक' अर्थात् बतलानेवाला है, वह कहीं पदार्थों का कारक नहीं है। छहों द्रव्य ही स्वयं अपने-अपने छह कारकरूप से परिणमित होते हैं।●●

दूसरा प्रवचन

[आश्विन कृष्णा १३, वीर सं० २४८०]

पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी शुद्धस्वभाव के पुरुषार्थ बिना शुद्धपर्याय कभी नहीं होती। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का अपूर्व पुरुषार्थ करे, उसी को सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं।

(३६) जिसका पुरुषार्थ ज्ञायक की ओर ढला, उसी को क्रमबद्ध की श्रद्धा हुई

'अहो! मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञान ही मेरा परम स्वभाव है'—ऐसे निर्णय का अन्तर में प्रयत्न करे, उसके ऐसा निर्णय हो जाता है कि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है और सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान से ऐसा ही जाना है। जिस जीव ने अपने ज्ञान में ऐसा निर्णय किया, उसे सर्वज्ञ से विरुद्ध कथन करनेवाले (अर्थात् निमित्त के कारण कुछ फेरफार होता है या राग से धर्म होता है-ऐसा माननेवाले) कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता छूट गयी है; उसका पुरुषार्थ ज्ञानस्वभाव की ओर ढला है और उसी को सर्वज्ञदेव की तथा क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ श्रद्धा हुई है।

(३७) सर्वज्ञदेव को न माननेवाले

कोई ऐसा कहे कि "सर्वज्ञदेव भविष्य की पर्याय को वर्तमान में नहीं जानते, किन्तु जब वह पर्याय होगी, तब वे उसे जानेंगे!"—तो ऐसा कहनेवाले को सर्वज्ञ की श्रद्धा भी नहीं रही। भाई रे! भविष्य के परिणाम होंगे, तब सर्वज्ञदेव जानेंगे—ऐसा नहीं है; सर्वज्ञदेव को तो पहले से ही तीन काल-तीन लोक का ज्ञान वर्त रहा है। तुझे ज्ञायकरूप से नहीं रहना है किन्तु निमित्त द्वारा क्रम बदलना हो सकता है—ऐसा मानना है, यह तेरी दृष्टि ही विपरीत है। ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करने से पर्याय का निर्मल क्रम प्रारम्भ हो जाता है, यह नियम है।

जीव-अजीव के सर्व परिणाम क्रमबद्ध जैसे हैं, वैसे सर्वज्ञदेव ने जाने हैं और सूत्र में भी वैसे ही बतलाये हैं; इसलिए आचार्यदेव ने गाथा में कहा कि—"**जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते...**" जीव-अजीव के क्रमबद्ध परिणाम जैसे हैं, वैसे ही-उन्हीं सब प्रकारों के सर्वज्ञदेव ज्ञाता हैं, किन्तु उनके कारक नहीं हैं।

(३८) जो आत्मा का ज्ञायकपना नहीं मानता, वह केवली आदि को नहीं मानता

जीव प्रतिसमय अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता है; जीव में अनन्त गुण होने से

एक समय में उन अनन्त गुणों के अनन्त परिणाम होते हैं; उनमें प्रत्येक गुण के परिणाम प्रतिसमय नियमित क्रमबद्ध ही होते हैं—ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णय करने से ज्ञान, स्वसन्मुख होकर अकर्तारूप से—साक्षीभाव से परिणमित हुआ, वहाँ साधकदशा होने से अभी अस्थिरता का राग भी होता है, किन्तु ज्ञान तो उसका भी साक्षी है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ, उसकी क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही है कि उस समय ज्ञायक को जानते हुए वैसे राग को भी जाने। ऐसे ज्ञायकपने को न माने और पर्याय के क्रम में फेरफार करना माने तो वह जीव, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता; केवलीभगवान को भी वह नहीं मानता और केवलज्ञान के साधक गुरु कैसे होते हैं, उन्हें भी वह नहीं जानता। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करके जिसने अपने ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में लिया, उसे सम्यग्दर्शनादि हुए हैं और उसी ने वास्तव में केवलीभगवान को, उनके शास्त्रों को और गुरु को माना है।

(३९) पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी, पुरुषार्थों को ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होती हैं

देखो, इसमें आत्मा के ज्ञायकस्वभाव के पुरुषार्थ की बात है। 'क्रमबद्धपर्याय' का ऐसा अर्थ नहीं है कि जीव चाहे जैसे कुधर्म को मानता हो, तथापि उसे सम्यग्दर्शन हो सकता है। अथवा चाहे जैसे तीव्र विषय-कषायों में वर्तता हो या एकेन्द्रियादि पर्याय में वर्तता हो, तथापि उसे भी क्रमबद्धरूप से उस पर्याय में सम्यग्दर्शनादि हो जायें—ऐसा कभी कहीं होता। जो कुधर्म को मानते हैं, तीव्र विषय-कषाय में वर्तते हैं, या एकेन्द्रिय में पड़े हैं, उन्हें कहाँ अपने ज्ञानस्वभाव की या क्रमबद्धपर्याय की खबर है? पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी, शुद्धस्वभाव के पुरुषार्थ बिना कदापि शुद्धपर्याय नहीं होती। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का अपूर्व पुरुषार्थ करे, उसी को सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं और जो वैसा पुरुषार्थ नहीं करता, उसे क्रमबद्ध मलिन पर्याय होती है। पुरुषार्थ के बिना ही हमें सम्यग्दर्शनादि निर्मल दशा हो जायेगी—ऐसा कोई माने तो वह क्रमबद्धपर्याय का रहस्य समझा ही नहीं है। जो जीव, कुदेव को-कुगुरु को-कुधर्म को मानता है और स्वच्छन्दता से तीव्र कषायों में वर्तता है—ऐसे जीव को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा ही नहीं है। भाई! अपने ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ बिना तूने क्रमबद्धपर्याय को कहाँ से जाना? जब तक कुदेव-कुधर्म आदि को माने, तब तक उसकी क्रमबद्धपर्याय में सम्यग्दर्शन की योग्यता हो ही नहीं सकती। सम्यग्दर्शन की योग्यतावाले जीव को उसके साथ ज्ञान का विकास, स्वभाव का पुरुषार्थ आदि भी योग्य ही होते हैं; एकेन्द्रियपना आदि पर्याय में उस प्रकार के ज्ञान, पुरुषार्थ आदि नहीं

होते, ऐसा ही उस जीव की पर्याय का क्रम है। यहाँ तो यह बात है कि पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की, उसे सम्यग्दर्शन हुआ; इसलिए पर का और रागादि का अकर्ता हुआ और उसी ने क्रमबद्धपर्याय को यथार्थ रूप से जाना है। अभी तो कुदेव और सुदेव का निर्णय करने की भी जिसके ज्ञान में शक्ति नहीं है, उस जीव में ज्ञायकस्वभाव का और अनन्त गुणों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने की शक्ति तो कहाँ से होगी ? और यथार्थ निर्णय के बिना क्रमबद्ध-पर्याय में शुद्धता हो जाये—ऐसा नहीं होता।

(४०) 'अनियतनय' या 'अकालनय' के साथ क्रमबद्धपर्याय का विरोध नहीं है

प्रवचनसार के परिशिष्ट के ४७ नयों में २७ वें अनियतनय से आत्मा को 'अनियत' कहा है, परन्तु अनियत अर्थात् अक्रमबद्ध—ऐसा उसका अर्थ नहीं है। वहाँ पानी की उष्णता का उदाहरण देकर समझाया है कि जिस प्रकार उष्णता पानी का नित्यस्थायी स्वभाव नहीं है, किन्तु उपाधिभाव है। वह नित्यस्थायी स्वभाव नहीं, इसलिए अनियमित है। उसी प्रकार विकार, आत्मा का स्थायी स्वभाव नहीं, परन्तु उपाधिभाव है; इसलिए उस विकार की अपेक्षा से आत्मा को अनियत कहा है। इसी प्रकार ३१ वें बोल में वहाँ 'अकालनय' कहा है, उसमें भी कहीं इस क्रमबद्धपर्याय के नियम से विरुद्ध बात नहीं है; कहीं क्रमबद्धपर्याय को तोड़कर वह बात नहीं है। *(इन अनियतनय तथा अकालनय सम्बन्धी विशेष समझ के लिये आत्मधर्म में प्रकाशित होनेवाले पूज्य गुरुदेव के प्रवचन पढ़ें।)*

(४१) जैनदर्शन की मूलवस्तु का निर्णय

मूल वस्तुस्वभाव क्या है - उसका पहले बराबर निर्णय करना चाहिए। आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव क्या है ? और ज्ञेय पदार्थों का क्रमबद्धस्वभाव क्या है ?—उसके निर्णय में विश्वदर्शनरूप जैनदर्शन का निर्णय आ जाता है; किन्तु अज्ञानियों को उसका निर्णय नहीं है।

देखो, यह मूलवस्तु है; इसका पहले निर्णय करना चाहिए। इस मूलवस्तु के निर्णय बिना धर्म नहीं हो सकता। जिस प्रकार कोई आदमी किसी दूसरे आदमी के पास पाँच हजार की उगाही के लिये जाये; वहाँ कर्जदार आदमी उसे अच्छी-अच्छी मिठाईयों का भोजन कराये किन्तु लेनदार कहे कि भाई ! भोजन की बात पीछे, पहले मुख्य (मूल) बात करो, यानी मैं पाँच हजार रुपये लेने आया हूँ; उनकी पहले व्यवस्था कर दो—इस प्रकार वहाँ भी मुख्य बात पहले करते हैं; उसी प्रकार यहाँ मुख्य (मूल) रकम यह है कि आत्मा ज्ञानस्वभाव है, उसका निर्णय करना चाहिए। आत्मा

ज्ञायकस्वभाव है और पदार्थों की पर्याय का क्रमबद्धस्वभाव है—उसका जो निर्णय नहीं करता, और 'ऐसा निमित्त चाहिए तथा ऐसा व्यवहार चाहिए'—इस प्रकार व्यवहार की रुचि में रुक जाता है, उसका किंचित् भी हित नहीं होता। अहो! मैं ज्ञायक हूँ—यह मूल बात जिसकी प्रतीति में आ गयी, उसे क्रमबद्धपर्याय जमे बिना नहीं रहेगी; और जहाँ यह बात जमी, वहाँ सब स्पष्टीकरण हो जाते हैं।

(४२) हार के मोतियों के दृष्टान्त द्वारा क्रमबद्धपर्याय की समझ; और ज्ञान को सम्यक् करने की रीति

प्रवचनसार की ९९ वीं गाथा में लटकते हुए हार का दृष्टान्त देकर उत्पाद-व्यय-ध्रुव सिद्ध किये हैं; उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की बात आ जाती है। जिस प्रकार लटकते हुए हार के मोतियों के पीछे-पीछे के स्थानों में पीछे-पीछे के मोतियों के प्रगट (प्रकाशित) होने से और आगे-आगे के मोतियों के प्रगट नहीं होने से प्रत्येक मोती अपने-अपने स्थान में प्रकाशित है; उसमें आगे-आगे के स्थान में आगे-आगे का मोती प्रकाशित होता है और पीछे-पीछे के मोती प्रकाशित नहीं होते; उसी प्रकार लटकते हुए हार की भाँति परिणमित द्रव्य में समस्त परिणाम अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित रहते हैं, उसमें पीछे-पीछे के अवसरों में पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं और आगे-आगे के परिणाम प्रगट नहीं होते। (देखो, गाथा ९९ की टीका) लटकते हुए हार के डोरे में उसका प्रत्येक मोती यथास्थान क्रमबद्ध जमा हुआ है; यदि उसमें उल्टा-सीधा करने जाये-पाँचवें नम्बर का मोती हटाकर पच्चीसवें नम्बर पर लगाने जाये तो हार का डोरा टूट जायेगा, इसलिए हार की अखण्डता नहीं रहेगी। उसी प्रकार जगत का प्रत्येक द्रव्य झूलता अर्थात् परिणमनशील है। अनादि-अनन्त पर्यायरूप मोती क्रमबद्ध जमे हुए हैं; उसे न मानकर एक भी पर्याय का क्रम तोड़ने जाये तो गुण का और द्रव्य का क्रम टूट जायेगा, अर्थात् श्रद्धा ही मिथ्या हो जायेगी। मैं तो ज्ञायक हूँ; मैं निमित्त बनकर किसी की पर्याय में फेरफार कर दूँ—ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है—इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति द्वारा अकर्तापना हो जाता है अर्थात् सम्यग्ज्ञान होता है और वही जीव स्व-परप्रकाशक ज्ञान द्वारा इस क्रमबद्धपर्याय को यथार्थतया जानता है। इस प्रकार अभी तो ज्ञान को सम्यक् करने की यह रीति है; इसे समझे बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

(४३) ज्ञायकभाव का परिणमन करे, वही सच्चा श्रोता

इस क्रमबद्धपर्याय के विषय में आजकल बड़ी गड़बड़ी शुरु हुई है, इसलिए यहाँ उसका

विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। अभी तो जिसे इस बात के श्रवण का भी प्रेम न आये, वह अन्तर में पात्र होकर परिणमित कहाँ से करेगा? और अकेले श्रवण का प्रेम करे, किन्तु स्वच्छन्द टालकर अन्तर में ज्ञायकभाव का परिणमन न करे तो उसने भी वास्तव में यह बात नहीं सुनी है। यही बात समयसार की चौथी गाथा में आचार्यदेव ने रखी है; वहाँ कहा है कि एकत्वविभक्त शुद्धात्मा का श्रवण जीव ने पहले कभी नहीं किया है; अनन्त बार साक्षात् तीर्थंकर भगवान के समवसरण में जाकर दिव्यध्वनि सुन आया, तथापि आचार्य भगवान कहते हैं कि उसने भावभासनरूप शुद्धात्मा की बात का श्रवण किया ही नहीं; क्यों? क्योंकि अन्तर में उपादान जागृत करके उस शुद्धात्मा की रुचि नहीं की, इसलिए उसके श्रवण में निमित्तपना भी नहीं आया।

(४४) जहाँ स्वच्छन्द है, वहाँ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं है; साधक को ही क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा है।

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा हो जाये, किन्तु पर्याय के क्रम में से स्वच्छन्द दूर न हो तो?

उत्तर : ऐसा हो ही नहीं सकता। भाई! जो क्रमबद्धपर्याय को श्रद्धा करे, उसके पर्याय में स्वच्छन्द का क्रम रह ही नहीं सकता; क्योंकि ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसने वह प्रतीति की है। ज्ञानस्वभाव की पहिचान के पुरुषार्थ बिना अकेली क्रमबद्धपर्याय का नाम ले, उसकी यहाँ बात नहीं है क्योंकि ज्ञानस्वभाव की पहिचान बिना वह क्रमबद्धपर्याय को भी नहीं समझा है। ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति की, वहाँ तो अनन्तगुणों का अंश निर्मलरूप से परिणमित होने लगा है; श्रद्धा में सम्यग्दर्शन हुआ, ज्ञान में सम्यग्ज्ञान हुआ, आनन्द के अंश का वेदन हुआ, वीर्य का अंश स्वोन्मुख हुआ, इस प्रकार समस्त गुणों की अवस्था के क्रम में निर्मलता का प्रारम्भ हो गया। अभी जिसके श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् नहीं हुए हैं, आनन्द का भान नहीं है, वीर्यबल अन्तरस्वभावोन्मुख नहीं हुआ है, उसे क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नहीं है। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति के साथ तो स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ है; श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् हुए हैं, अतीन्द्रिय आनन्द और वीतरागता का अंश प्रगट हुआ है; इसलिए वहाँ स्वच्छन्द तो होता ही नहीं। साधकदशा में अस्थिरता का राग आता है, किन्तु वहाँ स्वच्छन्द नहीं होता; और जो राग है, उसका भी परमार्थतः तो वह ज्ञानी ज्ञाता ही है। इस प्रकार इसमें भेदज्ञान की बात है। सम्यग्दर्शन कहो, भेदज्ञान कहो या ज्ञायकभाव का पुरुषार्थ कहो, अथवा क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति कहो, वस्तुस्वभाव का निर्णय कहो-यह सब साथ ही हैं। क्रमबद्धपर्याय श्रद्धावाले को हठ भी नहीं रहती

और स्वच्छन्द भी नहीं रहता। सम्यक्श्रद्धा होने के साथ ही उसे उसी क्षण चारित्र प्रगट करके मुनित्व धारण कर लेना चाहिए—ऐसी हठ नहीं होती, और चाहे जैसा राग हो, उसमें कोई हर्ज नहीं है—ऐसा स्वच्छन्द भी नहीं होता; ज्ञायकभावरूप मोक्षमार्ग का उद्यम उसके चलता ही रहता है। चारित्र की कमजोरी में अपना ही अपराध मानता है, किसी अन्य का दोष नहीं मानता।

(४५) यह समझे तो सब गुत्थियाँ सुलझ जायें

आजकल उपादान-निमित्त और निश्चय-व्यवहार की बड़ी उलझनें चल रही हैं; यदि यह क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप बराबर समझे तो वे सारी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। 'द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता है'—ऐसा कहा, उसमें उस-उस पर्याय का क्षणिक उपादान आ जाता है। प्रत्येक समय की पर्याय अपने-अपने क्षणिक उपादान से ही क्रमबद्धरूप से नियमितरूप से उत्पन्न होती है; अपने परिणामों से ही अर्थात् उस समय की क्षणिक योग्यता से ही उत्पन्न होती है, निमित्त से उत्पन्न नहीं होती। प्रत्येक गुण में अपने-अपने क्षणिक उपादान से क्रमबद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं—इस प्रकार अनन्त गुणों के अनन्त परिणाम एक समय में उत्पन्न होते हैं। यह जो क्रमबद्धपना कहा जाता है, वह 'उर्द्धवता सामान्य' की अपेक्षा से अर्थात् काल प्रवाह की अपेक्षा से कहा जाता है।

(४६) वज्रभींत जैसा निर्णय

भाई! अपने ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके एकबार वज्रभींत जैसा यथार्थ निर्णय तो कर। वज्रभींत जैसा निर्णय किये बिना मोक्षमार्ग की ओर तेरा वीर्य नहीं चलेगा। यह निर्णय करने से तेरी प्रतीति में ज्ञान की अधिकता हो जायेगी और राग उस ज्ञान का ज्ञेय हो जायेगा। इसके अनुभवज्ञान बिना अनादि से स्व-पर के स्वरूप को भूलकर पर का मैं करूँ और पर को बदल दूँ, ऐसा मान रहा है—ऐसी बुद्धि तो संसारभ्रमण के कारणरूप है।

(४७) केवली की भाँति सर्व जीव ज्ञानस्वरूप हैं

आत्मा ज्ञानस्वभावी है; ज्ञान किसे बदलेगा? जिस प्रकार केवलीभगवान जगत के ज्ञाता-दृष्टा ही हैं, उसी प्रकार यह आत्मा भी ज्ञाता-दृष्टापने का ही कार्य कर रहा है। भगवान एक समय में परिपूर्ण जानते हैं और यह जीव अल्प जानता है—इतना ही अन्तर है, किन्तु अपने ज्ञाता-दृष्टापने की प्रतीति न करके, अन्यथा मानकर जीव संसार में भटक रहा है। अल्प और अधिक—ऐसे भेद को गौण कर डाले तो सर्व जीवों में ज्ञान का एक ही प्रकार है, समस्त जीव ज्ञानस्वरूप हैं और

जानने का ही कार्य करते हैं, किन्तु ज्ञानरूप से अपना अस्तित्व है, उसे प्रतीति में न लेकर, ज्ञान के अस्तित्व में पर का अस्तित्व मिलाकर, पर के साथ एकत्व मानता है, पर से लाभ-हानि मानता है, वही दु:ख और संसार है।

(४८) निमित्त वास्तव में कारक नहीं, किन्तु अकर्ता है

''सर्वज्ञभगवान को तो परिपूर्ण ज्ञान विकसित हो गया है, वे तो 'ज्ञायक' हैं, इसलिए वे पर में कुछ भी फेरफार नहीं करते, यह बात ठीक है, किन्तु यह जीव तो निमित्तरूप से कारक होकर अपनी इच्छानुसार पदार्थों में फेरफार—उल्टा-सीधा कर सकता है?''—ऐसा कोई कहे तो वह भी सत्य नहीं है। ज्ञायक हो या कारक हो, किन्तु पदार्थ की क्रमबद्धपर्याय को बदलकर कोई उल्टी-सीधी नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य निरन्तर स्वयं ही अपना कारक होकर क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, निमित्तरूप दूसरा द्रव्य वास्तव में कारक नहीं, किन्तु अकारक है; अकारक को कारक कहना, वह उपचारमात्र है; इसी प्रकार निमित्त अकर्ता है, उस अकर्ता को कर्ता कहना, वह उपचार है—व्यवहार है—अभूतार्थ है।

(४९) ज्ञायक के निर्णय में ही सर्वज्ञ का निर्णय!

भगवान सर्व के ज्ञायक हैं—ऐसा निर्णय किसने किया? ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर स्वयं ज्ञायक हुआ, तभी भगवान के ज्ञायकपने का यथार्थ निर्णय हुआ।

(५०) पर्याय में अनन्यपना होने से, पर्याय के बदलने पर द्रव्य भी बदलता है; चक्की के निचले पाटकी भाँति वह सर्वथा कूटस्थ नहीं है।

यहाँ ऐसा कहा है कि क्रमबद्धपरिणामरूप से द्रव्य उत्पन्न होता है—''**दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं**'' द्रव्य अपने जिन गुणों से जिन क्रमबद्धपरिणामोंरूप उत्पन्न होता है, उनमें उसे अनन्य जान। इसलिए, अकेली पर्याय ही पलटती है और द्रव्य-गुण तो ''चक्की के निचले पाट की भाँति'' सर्वथा कूटस्थ ही रहते हैं-ऐसा नहीं है। पर्याय के बदलने से उस-उस पर्यायरूप से द्रव्य-गुण उत्पन्न होते हैं। पहले समय की पर्याय में जो द्रव्य-गुण अनन्य थे, वे दूसरे समय पलटकर दूसरे समय की पर्याय में अनन्य हैं। पहले समय में पहली पर्याय का जो कर्ता था, वह बदलकर दूसरे समय में दूसरी पर्याय का कर्ता हुआ है। इसी प्रकार कर्ता की भाँति कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण—इन सब कारकों में प्रति समय परिवर्तन होता है। पहले समय जैसा कर्तापना था, वैसा ही कर्तापना दूसरे समय नहीं रहा; पर्याय के बदलने से

कर्तापना आदि भी बदले हैं। कर्ता-कर्म आदि छह कारक पहले जिस स्वरूप में थे, उसी स्वरूप में दूसरे समय नहीं रहे। पहले समय में पहली पर्याय के साथ तद्रूप होकर उसका कर्तृत्व था, और दूसरे समय में दूसरी पर्याय के साथ तद्रूप होकर उस दूसरी पर्याय का कर्तृत्व हुआ। इस प्रकार पर्याय अपेक्षा से, नई-नई पर्यायों के साथ तद्रूप होता-होता सारा द्रव्य प्रति समय पलट रहा है; द्रव्य-अपेक्षा से ध्रुवता है। यह कुछ सूक्ष्म बात है।

प्रवचनसार की ९३ वीं गाथा में भी कहा है कि—"**तेहिं पुणो पज्जाया.....**" द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। द्रव्य के परिणमित होने से उसके अनन्त गुण भी क्रमबद्धपर्यायरूप से साथ ही परिणमित हो जाते हैं। पर्याय में अनन्यरूप से द्रव्य उत्पन्न होता है—ऐसा कहने से, पर्याय के परिणमित होने से द्रव्य भी परिणमित हुआ है—यह बात सिद्ध होती है; क्योंकि यदि द्रव्य सर्वथा ही परिणमित न हो तो पहली पर्याय से छूटकर दूसरी पर्याय के साथ वह कैसे तद्रूप होगा? पर्याय के बदलने पर, यदि द्रव्य न बदले तो वह अलग पड़ा रहेगा!—इसलिए दूसरी पर्याय के साथ उसकी तद्रूपता हो ही नहीं सकती। किन्तु ऐसा नहीं होता; पर्याय परिणमित होती रहे और द्रव्य अलग रह जाये—ऐसा नहीं होता।

कोई ऐसा कहे कि "पहले समय की जो पर्याय है, वह स्वयं ही दूसरे समय की पर्यायरूप परिणमित हो जाती है, द्रव्य परिणमित नहीं होता"—तो यह बात असत्य है। पहली पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती; पर्याय में से पर्याय प्रगट होती है—ऐसा माननेवाले को तो "पर्यायमूढ़" कहा है। पर्याय के पलटने पर उसके साथ द्रव्य, क्षेत्र और भाव भी (पर्याय अपेक्षा से) पलट गये हैं। यदि ऐसा न हो तो समय-समय की नई पर्याय के साथ द्रव्य का तद्रूपपना सिद्ध नहीं हो सकता। "सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है"—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने अलौकिक नियम दिखा दिया है। चिद्विलास में भी यह बात की है।

(५१) जीव का सच्चा जीवन

जीव अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ, उसमें तन्मयरूप से जीव ही है, अजीव नहीं है। अजीव के या राग के आश्रय से उत्पन्न हो, ऐसा जीव का सच्चा स्वरूप नहीं है, और क्रमबद्ध-परिणाम न माने तो उसे भी वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है। "जीवित जीव" तो अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से ही उत्पन्न होता है, उसके बदले अजीवादि निमित्त के कारण जीव उत्पन्न होता है—ऐसा माने, अथवा तो जीव निमित्त होकर अजीव को उत्पन्न करता है—ऐसा माने तो उसने

जीव के जीवन को नहीं जाना है। जीव का जीवन तो ऐसा है कि पर के कारण-कार्य बिना ही स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है।

(५२) दृष्टि अनुसार क्रमबद्धपर्याय होती है

आत्मा ज्ञायकस्वरूप.... समभावी सूर्य है—ऐसे स्वभाव को जो नहीं जानता और स्वच्छन्दी होकर मिथ्यात्व की विषमबुद्धि से कर्तृत्व मानता है-पर में उल्टा-सीधा करना चाहता है—उसने जीव को वास्तव में माना ही नहीं है; ज्ञायकस्वरूप जीवतत्त्व को उसने जाना ही नहीं है। कर्तृत्व मानकर कहीं भी फेरफार करने गया, वहाँ स्वयं ज्ञातारूप से नहीं रहा और क्रमबद्धपर्याय ज्ञेयरूप है, उसे नहीं माना; इसलिए अकर्ता साक्षीस्वरूप ज्ञायक जीवतत्त्व उसकी दृष्टि में नहीं रहा। ज्ञायकस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है, वह ज्ञाता है—अकर्ता है और निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से वह उत्पन्न होता है। ज्ञातास्वभाव पर जिसकी दृष्टि नहीं है और पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर ही जिसकी दृष्टि है, उसे विपरीतदृष्टि में क्रमबद्धपर्याय अशुद्ध होती है। इस प्रकार यह दृष्टि बदलने की बात है; पर की दृष्टि छोड़कर ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करने की यह बात है; ऐसी दृष्टि प्रगट किये बिना यह बात यथार्थरूप से समझ में नहीं आ सकती।

(५३) ज्ञायक के लक्ष बिना एक भी न्याय सच्चा नहीं होता

पानी का जो प्रवाह है, वह उल्टा-सीधा नहीं होता; पहले का पीछे और पीछे का आगे—ऐसा नहीं होता; उसी प्रकार द्रव्य अपने अनादि-अनन्त पर्यायों के प्रवाहक्रम को द्रवित होता है—प्रवाहित होता है; उस प्रवाहक्रम में जिस-जिस पर्याय को वह द्रवित होता है, उस-उस पर्याय के साथ वह अनन्य है। जिस प्रकार मकान के खिड़की-दरवाजे नियत हैं; छोटे-बड़े अनेक खिड़की-दरवाजों में जिस स्थान पर जो खिड़की या दरवाजा लगाना हो, वही बराबर बैठता है; बड़ा दरवाजा काटकर छोटे दरवाजे की जगह लगा दें तो उस बड़े दरवाजे की जगह क्या लगायेंगे ? बड़े दरवाजे की जगह कहीं छोटा दरवाजा फिट नहीं हो सकता, वहाँ तो बढ़ई प्रत्येक खिड़की-दरवाजे पर नम्बर लिख रखता है। यदि उस नम्बर में गड़बड़ी हो जाये तो खिड़की-दरवाजों का मेल टूट जाता है। उसी प्रकार आत्मा ज्ञायकस्वरूप है और पदार्थ उसके ज्ञेय हैं; उन पदार्थों की क्रमबद्धपर्याय में जिस पर्याय का जो स्थान (-स्वकाल) है, वह आगे-पीछे नहीं होता। यदि एक भी पर्याय के स्थान को (प्रवाहक्रम को) बदलकर इधर-उधर करने जायें तो कोई व्यवस्था ही न रहे; क्योंकि एक पर्याय को बदलकर दूसरे स्थान पर रखा, तो दूसरे स्थान की पर्याय को बदलकर

तीसरे स्थान पर रखना पड़ेगी-इस प्रकार सारा द्रव्य ही छिन्न-भिन्न हो जायेगा अर्थात् उस जीव की दृष्टि में द्रव्य खण्ड-खण्ड होकर मिथ्यात्व हो जायेगा; सर्वज्ञता या ज्ञायकता तो सिद्ध ही नहीं होगी। 'मैं ज्ञायक हूँ'—इस बात का जबतक लक्ष्य न हो, तबतक एक भी सच्चा न्याय समझ में नहीं आ सकता। आत्मा ज्ञायक और सर्व पदार्थ ज्ञेय-इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय दोनों व्यवस्थित हैं। जैसे पदार्थ हैं, वैसा ही ज्ञान जानता है, और जैसा ज्ञान जानता है, वैसे ही पदार्थ हैं, तथापि किसी के कारण कोई नहीं है—ऐसा वस्तुस्वरूप है। ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर जो ज्ञाता हुआ, वह राग का भी ज्ञाता ही है और वह राग भी उसके ज्ञान का ज्ञेय होकर रहता है। पदार्थों की व्यवस्था का ज्ञायक न रहकर फेरफार करना मानता है, उसे अपने ज्ञान का ही विश्वास नहीं है।

(५४) ''पदार्थों का परिणमन व्यवस्थित या अव्यवस्थित ?''

भाई! तू ज्ञान है; ज्ञान क्या करता है ? वस्तु जैसी हो, वैसी जानता है। तेरा स्वरूप जानने का है। तू विचार तो कर कि पदार्थों का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ? यदि व्यवस्थित कहा जाये तो उसमें कहीं भी फेरफार करना नहीं रहता, ज्ञातृत्व ही रहता है; और यदि अव्यवस्थित कहा जाये तो ज्ञान ने जाना क्या ? पदार्थों का परिणमन अव्यवस्थित कहने से ज्ञान ही अव्यवस्थित सिद्ध होगा; क्योंकि अव्यवस्थित हो तो केवलीभगवान ने जाना क्या ? इसलिए न तो केवलज्ञान ही सिद्ध होगा और न आत्मा का ज्ञानस्वभाव! ज्ञानस्वभाव की पहचान के बिना न तो मिथ्यात्व दूर होता है और न धर्म का अंश भी प्रगट होता है।

(५५) जीव या अजीव सबकी पर्याय क्रमबद्ध है, उसे जाननेवाला ज्ञानी तो ज्ञाताभावरूप से ही क्रमबद्ध उत्पन्न होता है

कोई कहे कि ''कभी जीव क्रमबद्धपरिणामरूप से परिणमित होता है और कभी अक्रमरूप से भी; उसी प्रकार अजीव भी कभी क्रमबद्ध परिणमित होता है और कभी जीव उसे अक्रमरूप से भी परिणमित कर देता है।''—ऐसा नहीं है। भाई! जीव या अजीव किसी का ऐसा स्वरूप नहीं है कि अक्रमबद्ध से परिणमित हों। केवलज्ञान चौथे गुणस्थान में हो जाये और सम्यग्दर्शन तेरहवें गुणस्थान में हो—ऐसा कभी नहीं होता; पहले केवलज्ञान हो जाये और फिर मुनिदशा ग्रहण करे—ऐसा भी कभी नहीं होता; ऐसा ही वस्तु के परिणमन का स्वभाव है। धर्मी के स्वभावदृष्टि में ज्ञानकभाव का पुरुषार्थ चालू ही है; ज्ञान में धैर्य है, चारित्र में अल्प राग होता है, उसे भी जानते हैं; किन्तु उन्हें आकुलता नहीं है, उतावल नहीं है, हठ नहीं है; वह तो क्रमबद्ध अपने ज्ञाताभावरूप उत्पन्न होता हुआ उसमें तद्रूप है।

(५६) अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है

जिस प्रकार जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, जीव उसका कर्ता नहीं है। यह शरीर हिले-डुले, भाषा बोली जाये, वह सब अजीव की क्रमबद्धपर्यायें हैं। उसमें जिस समय जो पर्याय होती है, वह उसके अपने से ही होती है, उस पर्यायरूप से वह अजीव स्वयं ही उत्पन्न होता है, जीव उसका कारण नहीं है और न वह जीव का कार्य है। इस प्रकार अकार्यकारणपना जीव में भी है और अजीव में भी है; इसलिए उन्हें परस्पर कोई भी कारणकार्यपना नहीं है—ऐसा वस्तुस्वरूप बतलाकर, यहाँ आत्मा का ज्ञायकस्वभाव बतलाना है।

(५७) सर्व द्रव्यों में ''अकार्यकारणशक्ति''

सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्य के साथ उत्पादक-उत्पाद्यभाव का अभाव है, अर्थात् सर्व द्रव्यों को पर के साथ अकार्यकारणपना है। इस प्रकार ''अकार्यकारणशक्ति'' सभी द्रव्यों में है। अज्ञानी कहते हैं कि ''अकार्यकारणशक्ति तो सिद्ध में ही है और संसारी जीवों को तो पर के साथ कार्य-कारणपना है''—यह बात झूठ है।

(५८) पुद्गल में क्रमबद्धपर्याय होने पर भी...

पुद्गल में कर्म आदि की अवस्था भी क्रमबद्ध है; पुद्गल में वह अवस्था होना नहीं थी और जीव ने विकार करके वह अवस्था उत्पन्न की, ऐसा नहीं है। पुद्गलकर्म में उपशम-उदीरणा-संक्रमण-क्षय इत्यादि जो अवस्थायें होती हैं, उन अवस्थाओंरूप से पुद्गल स्वयं क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होता है। ऐसा होने पर भी ऐसा नियम है कि ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाता होकर जीव जहाँ अकर्तारूप से परिणमित हुआ, वहाँ जगत में ऐसी क्रमबद्धपर्याय की योग्यतावाले कोई परमाणु ही नहीं हैं कि जो उसे मिथ्यात्वप्रकृतिरूप से बँधे। मिथ्यात्वप्रकृति के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही उसे ज्ञायकदृष्टि में से छूट गया है।-यह बात आचार्यदेव अगली गाथाओं में बड़ी अच्छी तरह समझायेंगे।

(५९) क्रमबद्धपर्याय को न समझनेवाले की कुछ भ्रमणायें

अजीव में ज्ञान नहीं है, इसलिए उसकी अवस्था तो जैसी होना होती है, वैसी क्रमबद्ध होती रहती है; किन्तु जीव की अवस्था क्रमबद्ध नहीं होती, वह तो अक्रमरूप भी होती है-ऐसा कोई माने तो वह बात असत्य है।

अजीव में ज्ञान नहीं है, इसलिए जीव उसकी अवस्था जैसी करना चाहे, वैसी कर सकता है, इसलिए उसकी अवस्था क्रमबद्ध नहीं है किन्तु अक्रम है; पानी भरा हो उसमें जैसा रंग डालोगे, वैसे रंग का हो जायेगा–ऐसा कोई माने तो उसकी बात भी झूठ है।

क्रमबद्धपर्याय है, इसलिए हमें कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करना चाहिए–ऐसा कोई माने तो वह भी अज्ञानी है; क्योंकि क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ज्ञातामात्रपने का पुरुषार्थ आ जाता है, उसे वह नहीं समझा है।

मैं ज्ञायक हूँ–ऐसे स्वभाव का पुरुषार्थ करने से सर्व द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय होता है, वह यथार्थ है। इस ओर आत्मा का ज्ञायकस्वभाव न माने तथा दूसरी ओर पदार्थों में क्रमबद्धपरिणाम न माने और फेरफार करना माने तो वह जीव, न तो वस्तुस्वरूप को जानता है और न पंच परमेष्ठी भगवन्तों को ही वास्तव में मानता है।

(६०) जीव के कारण बिना ही अजीव की क्रमबद्धपर्याय

शरीर की अवस्था भी अजीव से होती है। मैं उसकी अवस्था को बदलूँ अथवा तो अनुकूल आहार-विहार का बराबर ध्यान रखकर शरीर को अच्छा कर दूँ—ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहार के एक रजकण को भी बदलना, वह जीव की क्रिया नहीं है। ''दाने-दाने पर खानेवाले का नाम''—ऐसी एक पुरानी कहावत है, वह क्या बतलाती है ?—कि जिसके पेट में जो दाना आना है, वही आयेगा; जीव उसका ध्यान रखकर शरीर की रक्षा कर दे–ऐसा नहीं है। जीव के कारण बिना ही अजीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है। आत्मा का स्वभाव अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होने का है।

''अरे ! इस शरीर का कोई अंग जिस तरह ऊँचा-नीचा करना हो, वैसा हम कर सकते हैं; तो क्या हममें इतनी शक्ति नहीं है कि परमाणु को बदल सकें ?''—ऐसी दलील अज्ञानी करते हैं।

ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई ! क्या परमाणुओं में ऐसी शक्ति नहीं है कि वे अपने क्रमबद्धपरिणामों से ऊँचे-नीचे हों ? क्या अजीवद्रव्यों में शक्ति ही नहीं है ? भाई ! अजीव में भी ऐसी शक्ति है कि तेरे कारणपने के बिना ही वह स्वयं अपनी हलन-चलनादि अवस्थारूप उत्पन्न होता है, अपनी अवस्था में वह तद्रूप है; उसमें कुछ भी फेरफार करने की शक्ति जीव में नहीं है।—जीव में उसे जानने की शक्ति है; इसलिए तू अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय कर और अजीव के कर्तृत्व की बुद्धि छोड़। ●●

तीसरा प्रवचन

(आश्विन कृष्ण १४, वीर संवत् २४८०)

जिसे समझने से आत्मा का हित हो, ऐसा उपदेश, वह इष्टोपदेश है। यहाँ ''योग्यता'' कहकर समय-समय की पर्याय की स्वतंत्रता बतालई जाती है, वही उपदेश इष्ट है, इसके सिवा पर के कारण कुछ होना बतलाये, अर्थात् पराधीनता बतलााये, वह उपदेश इष्ट नहीं है—हितकारी नहीं है—प्रिय नहीं है। समय-समय की क्रमबद्धपर्याय बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये, वह उपदेश इष्ट है।

(६१) अधिकार की स्पष्टता

यह सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार है; ''सर्वविशुद्धज्ञान'' यानी अकेला ज्ञायकभाव। ज्ञायकस्वरूप जीव, कर्म का कर्त्ता नहीं है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है। क्रमबद्धपर्याय के वर्णन में आत्मा का ज्ञायकस्वभाव सिद्ध करके उसे अकर्ता बतलाया है। आत्मा निमित्तरूप से भी जड़कर्म का कर्ता नहीं है—ऐसा उसका स्वभाव है।

(६२) क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता का क्रम कब चालू होता है ?

प्रथम तो जीव की बात की है कि—जीव अपने अनन्त गुणों के परिणामों से क्रमबद्ध नियमितरूप से उत्पन्न होता है, और उन परिणामों में अनन्यरूप से वह जीव ही है, अजीव नहीं है। इसमें द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों आ गये। अपने अनादि-अनन्त परिणामों में क्रमबद्धरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकस्वभावी जीव किसी पर के कार्य में कारण नहीं है और कोई पर उसके कार्य में कारण नहीं है; किसी के कारण किसी की अवस्था के क्रम में फेरफार हो—ऐसा कभी नहीं होता। ''मैं ज्ञायक हूँ''—ऐसी स्वभावसन्मुख दृष्टि होने से धर्मी को क्रमबद्धपर्याय निर्मलरूप से परिणमित होने लगती है, किन्तु पर्याय को आगे-पीछे करने पर उसकी दृष्टि नहीं है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि का पुरुषार्थ होने से क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता का क्रम चालू हो जाता है।

(६३) अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये क्रमबद्धपर्याय की बात क्यों ली ?

किसी को ऐसा प्रश्न उठे कि यहाँ तो आत्मा को अकर्ता सिद्ध करना है, उसमें यह क्रमबद्धपर्याय की बात क्यों की ?—तो उसका कारण यह है कि जीव और अजीव समस्त द्रव्य स्वयं अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होते हैं—यह बात जमे बिना, ''मैं पर को बदल

दूँ''—ऐसी कर्ताबुद्धि नहीं छूटती और अकर्तृत्व नहीं होता। मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ और प्रत्येक वस्तु की अवस्था क्रमबद्ध होती रहती है, उसका मैं ज्ञाता हूँ, किन्तु कर्ता नहीं हूँ—ऐसा निश्चय होने से कर्ताबुद्धि छूट जाती है और अकर्तृत्व अर्थात् साक्षीपना-ज्ञायकपना हो जाता है। स्वभाव से तो सब आत्मा अकर्ता ही हैं, किन्तु यह तो पर्याय में अकर्तापना हो जाने की बात है।

(६४) क्रमबद्ध है, तो फिर उपदेश क्यों ?

पर्याय तो क्रमबद्ध ही होती है, तो फिर शास्त्र में इतना अधिक उपदेश क्यों दिया है ?—ऐसा कोई पूछे, तो कहते हैं कि भाई! उस सब उपदेश का तात्पर्य तो ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करना है। उपदेश की वाणी तो वाणी के कारण क्रमबद्ध निकलती है। इस समय ऐसी ही भाषा निकालकर मैं दूसरे को समझा दूँ—ऐसी कर्ताबुद्धि ज्ञानी के नहीं है।

(६५) वस्तुस्वरूप का एक ही नियम

सर्व द्रव्य अपने-अपने परिणाम के कर्ता हैं, किसी अन्य का हस्तक्षेप उसमें नहीं है। ''ऐसा निमित्त आये तो ऐसा हो सकता है और दूसरा निमित्त आये तो वैसा हो जायेगा''—ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है। वस्तुस्वरूप का एक ही नियम है कि प्रत्येक द्रव्य, क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ स्वयं ही अपनी पर्याय का कर्ता है और दूसरे से वह निरपेक्ष है। वस्तु स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है।—ऐसा न मानकर, दूसरा उसमें फेरफार कर सकता है—ऐसा जो मानता है, उसे पर में फेरफार करने की बुद्धि रहती है; इसलिए पर की ओर से हटकर वह अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होता, इसलिए उसे ज्ञातापना नहीं होता—अकर्तापना नहीं होता और कर्तृत्वबुद्धि नहीं छूटती। यहाँ ''प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, दूसरा कोई उसका कर्ता नहीं है''—इस नियम के द्वारा आत्मा का अकर्तृत्व समझाकर कर्ताबुद्धि छुड़ाते हैं।

(६६) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि प्रगट किये बिना, क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर बचाव करना चाहे, वह महान स्वच्छन्दी है

इस क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर कोई स्वच्छन्द से ऐसा बचाव करे कि ''हमें क्रोध होना था, वह क्रमबद्ध हो गया, उसमें हम क्या करें ?'' तो उससे कहते हैं कि अरे, मूढ़ जीव! अभी तुझे आत्मा के ज्ञायकपने की प्रतीति नहीं हुई तो तू क्रमबद्धपर्याय की बात कहाँ से लाया! ज्ञायकस्वभाव के निर्णय से ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। तेरी दृष्टि ज्ञायक पर है या

क्रोध पर ? यदि ज्ञायक पर दृष्टि हो तो फिर ज्ञायक में क्रोध होना कहाँ से आया ? अपने ज्ञायकभाव का निर्णय करके पहले तू ज्ञाता हो, फिर तुझे क्रमबद्धपर्याय की खबर पड़ेगी। ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर ज्ञायक को ज्ञान का ज्ञेय बनाना—उसी की इसमें मुख्यता है; राग को ज्ञेय करने की मुख्यता नहीं है। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय किया, वहाँ ज्ञान की ही अधिकता रहती है —क्रोधादि की अधिकता कभी भी नहीं होती, इसलिए ज्ञाता को अनन्तानुबन्धी क्रोधादि होते ही नहीं और उसी को क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति हुई है।

क्रोध के समय जिसे ज्ञानस्वरूप का तो भास नहीं होता, उसे क्रोध की ही रुचि है और क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर बचाव करना चाहता है, वह तो महान स्वच्छन्दी है। क्रमबद्धपर्याय में ज्ञायकभाव का परिणमन भासित न होकर, क्रोधादि कषाय का परिणमन भासित होता है, यही उसकी विपरीतता है। भाई रे! यह मार्ग तो छुटकारे का है या बंधन का ? इसमें तो ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके छुटकारे की बात है; इस बात का यथार्थ निर्णय होने से ज्ञान पृथक् का पृथक् रहता है। जो छुटकारे का मार्ग है, उसके बहाने स्वच्छन्द का पोषण करता है, उस जीव को छुटकारे का अवसर कब आयेगा!!

(६७) अजर प्याला!

यह तो अजर-अमर प्याला है; इस प्याले को पचाना दुर्लभ है। पात्र होकर जिसने यह प्याला पिया और पचाया, वह अजर-अमर हो जाता है, अर्थात् जन्म-मरण रहित ऐसे सिद्धपद को प्राप्त होता है।

(६८) क्रमबद्धपर्याय में भूमिकानुसार प्रायश्चितादि का भाव होता है

'लगे हुए दोषों का प्रायश्चित करने का वर्णन तो शास्त्र में बहुत आता है; दोष हुआ, वह पर्याय भी क्रमबद्ध है, तब फिर उसका प्रायश्चित्तादि किसलिए ?'—ऐसी किसी को **शंका** हो तो उसका **समाधान** यह है कि—साधक को उस-उस भूमिका में प्रायश्चित्तादि का वैसा विकल्प होता है, उसका वहाँ ज्ञान कराया है। साधकदशा के समय क्रमबद्धपर्याय में उस प्रकार के भाव आते हैं, वह बतलाया है। 'हमें क्रमबद्धपर्याय में दोष होना था, वह हो गया, उसका प्रायश्चित्त क्या करें ?'—ऐसा कोई कहे तो वह मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्दी है; साधक को ऐसा स्वच्छन्द नहीं होता। साधकदशा तो परम विवेकवाली है; उसे अभी वीतरागता नहीं हुई है और स्वच्छन्द भी नहीं रहा है; इसलिए दोषों के प्रायश्चित्तादि का शुभविकल्प आये-ऐसी ही वह भूमिका है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर भी सम्यक्त्वी को चौथे गुणस्थान में ऐसा भाव आता है कि मैं चारित्रदशा लूँ; मुनि को ऐसा भाव आता है कि लगे हुए दोषों की गुरु के निकट जाकर सरलतापूर्वक आलोचना करूँ और प्रायश्चित्त लूँ—'कर्म तो जब खिरना होंगे, तब खिरेंगे, इसलिए अपने को तप करने की क्या आवश्यकता है?'—ऐसा विकल्प मुनि को नहीं आता; किन्तु ऐसा भाव आता है कि मैं तप द्वारा निर्जरा करूँ-शुद्धता बढ़ाऊँ। ऐसा ही उस-उस भूमिका के क्रम का स्वरूप है। 'चारित्रदशा तो क्रमबद्धपर्याय में जब आना होगी, तब आ जायेगी'—ऐसा कहकर सम्यक्त्वी कभी स्वच्छन्दी या प्रमादी नहीं होता; द्रव्यदृष्टिवाले को ही क्रमबद्धपर्याय यथार्थरूप से समझ में आती है। क्रम बदलता नहीं है, तथापि पुरुषार्थ की धारा नहीं टूटती—यह बात ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि बिना नहीं हो सकती। शास्त्रों में प्रायश्चित आदि का वर्णन करके मध्यम भूमिका में कैसे-कैसे भाव होते हैं—उसका ज्ञान कराया है। वास्तव में तो ज्ञाता को ज्ञान की अधिकता में उन प्रायश्चित्तादि का विकल्प भी ज्ञेयरूप ही है।

(६९) क्रम-अक्रम-सम्बन्ध में अनेकान्त और सप्तभंगी

कोई ऐसा कहता है कि—'सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही हैं—ऐसा कहने में तो एकान्त हो जाता है; इसलिए कुछ पर्यायें क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमबद्ध हैं—ऐसा अनेकान्त कहना चाहिए;'—तो ऐसा कहनेवाले को एकान्त-अनेकान्त की खबर नहीं है। सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही 'हैं' और अक्रमरूप 'नहीं हैं'—ऐसा अनेकान्त है। अथवा क्रम-अक्रम का अनेकान्त लेना हो तो इस प्रकार है कि सर्व गुण, द्रव्य में एक साथ सहभावीरूप से वर्तते हैं; इसलिए उस अपेक्षा से द्रव्य अक्रमरूप ही है और पर्याय-अपेक्षा से क्रमरूप ही है-इस प्रकार ही कथंचित् क्रमरूप और कथंचित् अक्रमरूप-ऐसा अनेकान्त है, किन्तु कुछ पर्यायें क्रमरूप और कुछ पर्यायें अक्रमरूप-ऐसा मानना तो अनेकान्त नहीं, किन्तु वस्तुस्वरूप से विपरीत होने से मिथ्यात्व है।

पर्याय-अपेक्षा से तो क्रमबद्धपना ही है—यह नियम है, तथापि इसमें अनेकान्त और सप्तभंगी आ जाती है। गुणों की अपेक्षा से अक्रमपना और पर्यायों की अपेक्षा से क्रमपना-ऐसा अनेकान्तस्वरूप है, वह ऊपर कहा जा चुका है। तथा वस्तु में (१) स्यात् क्रमपना, (२) स्यात् अक्रमपना, (३) स्यात् क्रम-अक्रमपना, (४) स्यात अवक्तव्यपना, (५) स्यात् क्रम-अवक्तव्यपना, (६) स्यात् अक्रम-अवक्तव्यपना, और (७) स्यात् क्रम-अक्रम-अवक्तव्यपना—इस प्रकार क्रम-अक्रम-सम्बन्ध में सप्तभंगी भी उतरती है; किस प्रकार? वह कहा जाता है:—

(१) पर्यायें एक के बाद एक क्रमबद्ध होती हैं; इसलिये पर्यायों की अपेक्षा से कहने पर, वस्तु क्रमरूप है।

(२) सर्व गुण एकसाथ सहभावी हैं; इसलिए गुणों की अपेक्षा से कहने पर, वस्तु अक्रमरूप है।

(३) पर्यायें तथा गुण- इन दोनों की अपेक्षा से (एकसाथ) लेकर कहने पर, वस्तु क्रम-अक्रमरूप है।

(४) एक साथ दोनों नहीं कहे जा सकते, उस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य है।

(५) वस्तु में क्रमपना और अक्रमपना दोनों एक साथ होने पर भी, क्रमरूप कहते समय अक्रमपने का कथन बाकी रह जाता है, उस अपेक्षा से वस्तु क्रम-अवक्तव्यरूप है।

(६) इसी प्रकार अक्रमरूप कहने से क्रमपने का कथन बाकी रह जाता है, उस अपेक्षा से वस्तु अक्रम-अवक्तव्यरूप है।

(७) क्रमपना और अक्रमपना दोनों अनुक्रम से कहे जा सकते हैं, किन्तु एकसाथ नहीं कहे जा सकते, उस अपेक्षा से वस्तु क्रम-अक्रम-अवक्तव्यरूप है।

—इस प्रकार क्रम-अक्रम-सम्बन्ध में सप्तभंगी समझना चाहिये।

(७०) अनेकान्त कहाँ और किस प्रकार लागू होता है? (सिद्ध का दृष्टान्त)

यथार्थ वस्तुस्थिति क्या है, वह समझे बिना कई लोग अनेकान्त के या स्याद्वाद के नाम से गप्पें हाँकते हैं। जिस प्रकार अस्ति-नास्ति में वस्तु स्व-रूप से अस्तिरूप है और पर-रूप से नास्तिरूप है — ऐसा अनेकान्त है; किन्तु वस्तु स्व-रूप से भी अस्तिरूप है और पररूप से भी अस्तिरूप है—ऐसा अनेकान्त नहीं है, वह तो एकान्तरूप मिथ्यात्व है। उसी प्रकार यहाँ क्रम-अक्रम में भी समझना चाहिए। पर्यायें क्रमबद्ध हैं और गुण अक्रम हैं-ऐसा अनेकान्त है; किन्तु पर्यायें क्रमबद्ध है और पर्यायें अक्रम भी हैं—ऐसा मानना, वह कहीं अनेकान्त नहीं है; वह तो मिथ्यादृष्टि का एकान्त है। पर्यायें तो क्रमबद्ध ही हैं—अक्रम नहीं हैं—ऐसा अनेकान्त है। पर्याय में अक्रमपना तो है ही नहीं, इसलिए उसमें 'कथंचित् क्रम और कथंचित् अक्रम'—ऐसा अनेकान्त लागू नहीं होता। वस्तु में जो धर्म हों, उनमें सप्तभंगी लागू होती है, किन्तु वस्तु में जो धर्म ही न हो, उनमें सप्तभंगी लागू नहीं होती।

'सिद्धभगवन्त एकान्त सुखी ही है'—ऐसा कहने पर कोई अज्ञानी पूछे कि—सिद्ध भगवान

को एकान्त सुख ही क्यों कहते हो ? कथंचित् सुख और कथंचित् दु:ख -ऐसा अनेकान्त कहो न ? उसका समाधान :- भाई ! सिद्ध भगवान को जो सुख प्रगट हुआ है, वह एकान्त सुख ही है, उसमें दु:ख किंचित्मात्र है ही नहीं; इसलिए उसमें तेरा कहा हुआ सुख-दु:ख का अनेकान्त लागू नहीं होता। सिद्ध भगवान को शक्ति में या व्यक्ति में किसी प्रकार दु:ख नहीं है, इसलिए वहाँ सुख-दु:ख का ऐसा अनेकान्त या सप्तभंगी लागू नहीं होती; किन्तु सिद्ध भगवान को एकान्त सुख ही है और दु:ख किंचित् नहीं है—ऐसा अनेकान्त लागू होता है। (देखो, पंचाध्यायी, गाथा ३३३-३४-३५) उसी प्रकार यहाँ पर्याय में क्रमबद्धता है और अक्रमता नहीं है—ऐसा अनेकान्त लागू होता है, किन्तु पर्याय में क्रमता भी है और अक्रमता भी है—ऐसा अनेकान्त नहीं है, क्योंकि पर्याय में अक्रमता नहीं है। पर्याय से ही क्रमरूप और पर्याय से ही अक्रमरूप—ऐसा क्रम-अक्रमरूप जीव का स्वरूप नहीं है, किन्तु पर्याय से क्रमवर्तीपना और गुण से अक्रमवर्तीपना—ऐसा क्रम-अक्रमरूप जीव का स्वरूप है।

(७१) ट्रेन के दृष्टान्त से शंका और उसका समाधान

शंका : एक आदमी ट्रेन के डिब्बे में बैठा है और ट्रेन पूर्व-दिशा की ओर जा रही है; वहाँ ट्रेन के चलने से उस आदमी का भी पूर्व की ओर जो गमन हो रहा है, वह तो क्रमबद्ध है, किन्तु वह आदमी डिब्बे में खड़ा होकर पश्चिम की ओर चलने लगे तो उस गमन की अवस्था अक्रमरूप हुई न ?

समाधान : अरे भाई ! तुझे अभी क्रमबद्धपर्याय की खबर नहीं है। पर्याय का क्रमबद्धपना कहा जाता है, वह तो ऊर्ध्वप्रवाह की अपेक्षा से (-कालप्रवाह की अपेक्षा से) है, क्षेत्र की अपेक्षा से नहीं है। वह आदमी पहले पूर्व में चले और फिर पश्चिम में चलने लगे तो उससे कहीं उसकी पर्याय के काल का क्रम टूट नहीं गया है। ट्रेन पूर्व में जा रही हो और डिब्बे में बैठा हुआ आदमी पश्चिम की ओर चलने लगे, तो उससे कहीं उसकी वह पर्याय अक्रमरूप नहीं हुई है। अरे ! ट्रेन पूर्व में जा रही हो और सारी ट्रेन पीछे पश्चिम की ओर चलने लगे तो वह भी क्रमबद्ध ही है। पर्यायों का क्रमबद्धपना द्रव्य के ऊर्ध्वप्रवाहक्रम की अपेक्षा से है। यह क्रमबद्धपर्याय की बात अनेक जीवों ने तो अभी तक सुनी ही नहीं है। क्रमबद्धपना क्या है और किस प्रकार है, तथा उसका निर्णय करनेवाले का ध्येय कहाँ जाता है ?—वह बात लक्ष्य में लेकर समझे ही नहीं तो उसकी प्रतीति कहाँ से हो ? वस्तु में अनंत गुण हैं, वे सब एकसाथ—बिछे हुए—तिर्यक्प्रचयरूप हैं; इसलिए वे अक्रमरूप हैं, और पर्यायें एक के बाद एक—व्यतिरेकरूप—ऊर्ध्वप्रचयरूप हैं; इसलिए वे क्रमरूप हैं।

(७२) क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन है ?

देखो, क्रमबद्धपर्याय तो जीव और अजीव सभी द्रव्यों में है, किन्तु यह बात कहीं अजीव को नहीं समझाते; यह तो जीव को समझाते हैं, क्योंकि जीव ही ज्ञाता है। ज्ञाता को अपने ज्ञायकस्वभाव का भान होने पर वह क्रमबद्धपर्याय का भी ज्ञाता हो जाता है।

(७३) भाषा का उत्पादक जीव नहीं है

पाँचों अजीवद्रव्य भी अपने-अपने गुणों से अपने क्रमबद्ध नियमित परिणामरूप से उत्पन्न होते हुए अजीव ही हैं—जीव नहीं हैं। अजीव द्रव्य—उनमें प्रत्येक परमाणु भी—अन्य कारकों की अपेक्षा न रखकर स्वयं अपने छह कारकरूप होकर, अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होते हैं; वे भी किसी अन्य के कर्ता नहीं हैं और दूसरे का कार्य बनकर उसे अपना कर्ता बनायें—ऐसा भी नहीं है। भाषा बोली जाती है, वह अजीव की क्रमबद्धपर्याय है और उस पर्यायरूप से अजीवद्रव्य उत्पन्न होता है, जीव उसे उत्पन्न नहीं करता।

प्रश्न : केवलीभगवान की वाणी तो इच्छा के बिना ही सहजरूप से निकलती है; इसलिये वह क्रमबद्धपर्याय है और उसे जीव उत्पन्न नहीं करता—ऐसा भले ही कहो, किन्तु छद्मस्थ की वाणी तो इच्छापूर्वक है; इसलिये छद्मस्थ तो अपनी इच्छानुसार भाषा को परिणमित करता है न ?

उत्तर : भाई ! ऐसा नहीं है। केवलीभगवान के या छद्मस्थ के जो वाणी निकलती है, वह तो अजीव के अपने वैसे क्रमबद्धपरिणामों से ही निकलती है, जीव के कारण नहीं। छद्मस्थ को उस काल इच्छा होती है, किन्तु उस इच्छा ने वाणी को उत्पन्न नहीं किया है और इच्छा है, वह भी ज्ञाता का ज्ञेय है; ज्ञान की अधिकता में धर्मी जीव उस इच्छा का भी ज्ञायक ही है।

(७४) ज्ञायक को ही जानने की मुख्यता

वास्तव में तो, इच्छा को जानना भी व्यवहार है। ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके ज्ञायक को जानना, वह परमार्थ है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में राग को जानने की मुख्यता नहीं है, किन्तु ज्ञायक को जानने की मुख्यता है। ज्ञान में ज्ञायक की मुख्यता हुई, तब राग को उसका व्यवहारज्ञेय कहा; ज्ञाता जागृत हुआ, तब राग को रागरूप से जाना और तभी राग को व्यवहार कहा गया। इस प्रकार निश्चयपूर्वक ही व्यवहार होता है, क्योंकि ज्ञान और राग दोनों एकसाथ उत्पन्न होते हैं; धर्म शुरु होने में पहले रागरूप व्यवहार को पहले कहो तो ज्ञान के बिना (निश्चय के बिना) उस व्यवहार को जाना किसने ? व्यवहार स्वयं तो अन्धा है, उसे कहीं स्व-पर की खबर नहीं है। राग

और भेद व्यवहार का पक्ष छोड़कर निश्चय का अवलम्बन करके, स्व-परप्रकाशक ज्ञाता जागृत हुआ वही, ज्ञायक को जानते हुए, राग को भी व्यवहारज्ञेयरूप से जानता है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में निश्चय-व्यवहार दोनों एक साथ हैं; पहले व्यवहार और फिर निश्चय-ऐसा माने, अर्थात् राग के अवलम्बन से ज्ञान होना माने, तो वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है।

(७५) 'इष्टोपदेश' की बात—कौन-सा उपदेश इष्ट है ?

द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है—ऐसा कहने से उसमें समय-समय की क्षणिक योग्यता की बात भी आ गई।

कहो कहे कि—"योग्यता की बात तो 'इष्टोपदेश' में आई है, इसमें कहाँ आई ?" उसका उत्तर—यह भी इष्ट-उपेदश की ही बात है। इष्ट उपदेश अर्थात् हितकारी उपदेश। जिसे समझने से आत्मा का हित हो—ऐसा उपदेश, वह इष्टोपदेश है। यह 'योग्यता' कहकर समय-समय की पर्याय की स्वतन्त्रता बतलाई जा रही है, वही उपदेश इष्ट है; उसके सिवा पर के कारण कुछ होना बतलाये अर्थात् पराधीनता बतलाये, वह उपदेश इष्ट नहीं है-हितकारी नहीं है—प्रिय नहीं है। समय-समय की क्रमबद्धपर्याय बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये, वह उपदेश इष्ट है; किन्तु पर्याय में फेरफार / आगा-पीछा होना बतलाकर जो कर्ताबुद्धि का पोषण करे, वह उपदेश इष्ट नहीं है अर्थात् सच्चा नहीं है, हितकारी नहीं है। "जो आत्मा को हितमार्ग में प्रवर्तन कराये, वह गुरु है; वास्तव में आत्मा स्वयं ही अपनी योग्यता से अपने आत्मा को हितमार्ग में प्रवर्तित करता है; इसलिये वह स्वयं ही अपना गुरु है। निमित्तरूप से अन्य ज्ञानी गुरु होते हैं, किन्तु उस निमित्त के कारण इस आत्मा में कुछ हो जाये—ऐसा नहीं हो सकता।" देखो, यह इष्ट उपदेश! इस प्रकार उपदेश हो, तभी वह इष्ट है—हितकारी है—सत्य है; इससे विरुद्ध उपदेश हो तो वह इष्ट नहीं है—हितकारी नहीं है—सत्य नहीं है।

(७६) आत्मा का ज्ञायकत्व और पदार्थों के परिणमन में क्रमबद्धता

आत्मा ज्ञायक है, ज्ञातापना उसका स्वरूप है। जिस प्रकार केवली भगवान, जगत के सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञाता हैं; उसी प्रकार इस आत्मा का स्वभाव भी ज्ञाता है। ज्ञान ने जाना; इसलिए पदार्थों में वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—ऐसा नहीं है; और पदार्थ वैसे हैं, इसलिए उनका ज्ञान हुआ—ऐसा भी नहीं है। आत्मा का ज्ञायकस्वभाव और पदार्थों का क्रमबद्धपरिणमनस्वभाव है। 'ऐसा क्यों ?'—ऐसा विकल्प ज्ञान में नहीं है और पदार्थों के स्वभाव में भी ऐसा नहीं है। 'ऐसा

क्यों ?'—ऐसा विकल्प करके जो पदार्थ को बदलना चाहता है, उसने ज्ञान के स्वभाव को नहीं जाना है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से साधक जीव ज्ञाता हो जाता है; 'ऐसा क्यों ?'—ऐसा मिथ्याबुद्धि का विकल्प उसे नहीं होता।

(७७) ऐसी है साधकदशा!—एक साथ दस बोल

ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया वह—

— क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, (१)

— उसके ज्ञान में सर्वज्ञ की सिद्धि आई, (२)

— उसे भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ, (३)

— उसे मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रारम्भ हुआ, (४)

— उसे अकर्तृत्व हुआ, (५)

— उसने सर्व जैनशासन को जान लिया, (६)

— उसने देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थरूप से पहिचान लिया, (७)

— उसके निश्चय-व्यवहार दोनों एकसाथ आये, (८)

— उसकी पर्याय में पाँचों समवाय आ गये, (९)

— 'योग्यता ही वास्तविक कारण है' उसका उसे निर्णय हुआ; इसलिए इष्ट-उपदेश भी उसमें आ गया। (१०)

(७८) यह लोकोत्तर दृष्टि की बात है, जो इससे विपरीत माने, वह लौकिकजन है।

अहो, यह अलौकिक लोकोत्तर बात है। एक ओर ज्ञायकस्वभाव और सामने क्रमबद्धपर्याय—उसका निर्णय करना, वह लोकोत्तर है। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों की पर्यय क्रमबद्ध है—ऐसा न मानकर जो कुछ भी फेरफार करना मानता है, वह लौकिकजन है; लोकोत्तर जैनदृष्टि उसे नहीं रहती। अपने ज्ञायकस्वभाव सन्मुख दृष्टि रखकर आत्मा क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है और पदार्थों की क्रमबद्ध होनेवाली पर्यायों को जानता है—ऐसा जो लोकोत्तर स्वभाव है, उसे जो नहीं मानता, वह भले ही जैन सम्प्रदाय में रहता हो, तथापि भगवान उसे अन्यमती—लौकिकमती—अर्थात् मिथ्यादृष्टि कहते हैं। 'लौकिकमती' कहने से कई लोगों को यह बात कठिन मालूम होती है। किन्तु भाई! समयसार में आचार्य भगवान स्वयं कहते हैं कि—**'येत्वात्मानं कर्त्तारमेव पश्यंति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तते:**

लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि-करोतीत्यपसिद्धांतस्य समत्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तररिकाणामपि नास्ति मोक्षः।' (गाथा ३२२-२३ टीका)

—जो आत्मा को कर्ता ही देखते हैं-मानते हैं, वे लोकोत्तर हो तो भी लौकिकता का अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि लौकिकजनों के मत में परमात्मा विष्णु, देव-नारकादि कार्य करते हैं, और उनके (-लोक से बाह्य हो जानेवाले मुनियों के) मत में अपना आत्मा वे कार्य करता है—ऐसे अपसिद्धान्त की (मिथ्यासिद्धान्त की) दोनों के समानता है। इसलिये आत्मा के नित्यकर्तृत्व की उनकी मान्यता के कारण लौकिकजनों की भाँति, लोकोत्तर पुरुषों का (मुनियों का) भी मोक्ष नहीं होता।

उसके भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी भी लिखते हैं कि—

''जो आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे मुनि भी हों तो भी लौकिकजन सरीखे ही हैं; क्योंकि लोग ईश्वर को कर्ता मानते हैं और मुनियों ने भी आत्मा को कर्ता मान लिया, इस तरह इन दोनों का मानना समान हुआ। इस कारण जैसे लौकिकजनों के मोक्ष नहीं है, उसी तरह उन मुनियों के भी मोक्ष नहीं है।''

देखो, यह मूल सिद्धान्त है। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का द्रव्यलिंगी साधु होकर भी, यदि 'आत्मा पर का कर्ता है'—ऐसा माने, तो वह भी लौकिकजनों की भाँति मिथ्यादृष्टि ही है। अब, आत्मा पर का कर्ता है—ऐसा कदाचित् स्पष्ट न कहें, किन्तु—

❀ निमित्त हो, तद्नुसार कार्य होता है—ऐसा मानें, अथवा हम निमित्त होकर पर का कार्य कर दें—ऐसा मानें, अथवा

❀ राग के—व्यवहार के—अवलम्बन से निश्चय-श्रद्धा-ज्ञान होना मानें,— शुभरागरूप व्यवहार करते-करते निश्चयश्रद्धादि होना मानें,

❀ मोक्षमार्ग में पहले व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा मानें, अथवा

❀ राग के कारण ज्ञान हुआ, अर्थात् राग कर्ता और ज्ञान उसका कार्य-ऐसा मानें,

— तो वे सब भी वास्तव में लौकिकजन ही हैं, क्योंकि उनके लौकिकदृष्टि दूर नहीं हुई है। लौकिकदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि।

'ज्ञायक' के सन्मुख दृष्टि करके क्रमबद्धपर्याय को जाननेवाले सम्यक्त्वी, लोकोत्तर

दृष्टिवान हैं, और उनसे विरुद्ध माननेवाले लौकिक दृष्टिवान हैं।

(७९) समझने के लिये एकाग्रता

यदि यह बात सुनकर समझे तो आनन्द आये ऐसी है; किन्तु इसे समझने के लिये ज्ञान को अन्यत्र से हटाकर कुछ एकाग्र करना चाहिए। अभी तो जिसके श्रवण में भी एकाग्रता न हो और श्रवण के समय भी चित्त अन्यत्र भटकता हो, वह अन्तर में एकाग्र होकर यह बात समझेगा कब ?

(८०) भीतर दृष्टि करने से सारा निर्णय होता है

प्रश्न–आप तो बहुत से पक्ष (–पहलू) समझाते हैं, किन्तु हमारी बुद्धि अल्प है, उससे क्या–क्या समझें ?

उत्तर–अरे, भाई ! जो समझना चाहे, उसे यह सब समझ में आ सकता है। दृष्टि बाह्य में डाली है, उसे बदलकर अन्तर में दृष्टि करते हो यह सभी पक्ष समझ में आ सकते हैं। समझनेवाला स्वयं भीतर बैठा है या कहीं अन्यत्र गया है ? अन्तर में शक्तिरूप से परिपूर्ण ज्ञायकस्वभाव विद्यमान है, उसमें दृष्टि करे इतनी देर है। 'मेरे नैनों के आलस से... मैंने हरि को न देखा कभी...' इस प्रकार दृष्टि डालते ही निहाल कर दे, ऐसा भगवान आत्मा भीतर बैठा है, किन्तु नयनों के आलस्य से अज्ञानी उसे नहीं देखता। अन्तर्मुख दृष्टि करते ही इन सब पक्षों का निर्णय हो जाता है।

(८१) ज्ञाता स्व–पर को जानता हुआ उत्पन्न होता है

ज्ञाताभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वभाव को भी जानता है; स्व–पर दोनों को जानता हुआ उत्पन्न होता है, किन्तु स्व–पर दोनों को करता हुआ उत्पन्न नहीं होता। कर्ता तो एक स्व का ही है और स्व में भी वास्तव में ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्याय को ही करता है; राग का कर्तृत्व, धर्मी की दृष्टि में नहीं है।

ज्ञान उत्पन्न होता हुआ स्व को और राग को भी जानता हुआ उत्पन्न होता है, किन्तु 'राग को करता हुआ' उत्पन्न होता है—ऐसा नहीं है। ज्ञान उत्पन्न होता है और स्वयं अपने को जानता हुआ उत्पन्न होता है। उत्पन्न होना और जानना दोनों क्रियायें एकसाथ हैं; ज्ञान में वे दोनों क्रियायें एकसाथ होने में कोई विरोध नहीं है। 'आत्मा स्वयं अपने को किस प्रकार जानता है–इस सम्बन्ध में प्रवचनसार की ३६ वीं गाथा में आचार्यदेव ने शंका–समाधान किया है। एक पर्याय में से दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होने में विरोध है, किन्तु ज्ञानपर्याय स्वयं उत्पन्न हो और उसी समय वह स्व को जाने—ऐसी दोनों क्रियायें एकसाथ होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ज्ञान का स्वभाव ही स्व–

पर को प्रकाशित करने का है। ज्ञान स्वयं अपने को नहीं जानता—ऐसा जाननेवाले ने वास्तव में ज्ञान को ही नहीं माना है। यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञानी स्वयं अपने को जानता हुआ क्रमबद्धायकभावरूप ही उत्पन्न होता है। यह बात बराबर समझने योग्य है।

(८२) लोकोत्तरदृष्टि की बात समझने के लिये ज्ञान की एकाग्रता

कालेज के बड़े-बड़े प्रोफेसरों के भाषण की अपेक्षा भी यह तो अलग प्रकार की बात है; वहाँ तो समझने के लिये ध्यान रखता है, तथापि जितना पूर्व का विकास हो, तद्नुसार ही समझ में आता है; और समझने पर भी उसमें आत्मा का कल्याण तो होता नहीं है; और यह तो लोकोत्तर दृष्टि की बात है, इसमें ध्यान रखकर समझने के लिये ज्ञान को एकाग्र करे तो वर्तमान में भी नया-नया विकास होता जावे और अन्तर में एकाग्र होकर समझे उसका तो अपूर्व कल्याण हो जाये।

(८३) सम्यक्त्वी जीव निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से ही उत्पन्न होता है

जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होने से, उसके अनन्त गुण एकसाथ परिणमित होते हैं; ज्ञायकस्वभाव की ओर झुकाव हुआ, वहाँ श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि सर्व गुणों के परिणमन में निर्मलता के अंश का प्रारम्भ हो जाता है, फिर भले ही उसमें अल्प-अधिक अंश व्यक्त हो। चौथे गुणस्थान में क्षायिक श्रद्धा हो जाये, तथापि ज्ञान-चारित्र पूरे नहीं हो जाते, किन्तु उनका अंश तो प्रगट हो जाता है। इस प्रकार सम्यक्त्वी को निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न होने की ही मुख्यता है; अस्थिरता के जो रागादिभाव होते हैं, वे उसकी दृष्टि में गौण हैं, अभूतार्थ हैं। ज्ञायकभाव पर दृष्टि रखकर सम्यक्त्वी, निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप ही उत्पन्न होता है—रागादिरूप से वह वास्तव में उत्पन्न ही नहीं होता।

(८४) क्रमबद्धपरिणाम में छह-छह कारक

आचार्यदेव कहते हैं कि 'जीव अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है;' उसमें छहों कारक लागू होते हैं, वह इस प्रकार हैं:—

१— जीव स्वयं अपनी पर्याय के कर्तारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का कर्ता नहीं है।

२— जीव स्वयं अपने कर्मरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का कर्म नहीं है।

३— जीव स्वयं अपने करणरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का करण नहीं है।

४— जीव स्वयं अपने सम्प्रदानरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का सम्प्रदान नहीं है।

५— जीव स्वयं अपने अपादानरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का अपादान नहीं है।

६— जीव स्वयं अपने अधिकरणरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का अधिकरण नहीं है।

और इसी प्रकार अन्य छह कारक भी निम्नानुसार समझना चाहिए—

१— जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना कर्ता नहीं बनाता।

२— जीव अपनी पर्याय से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना कर्म नहीं बनाता।

३— जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना करण नहीं बनाता।

४— जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना सम्प्रदान नहीं बनाता।

५— जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना अपादान नहीं बनाता।

६— जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव को अपना अधिकरण नहीं बनाता।

उसी प्रकार, अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है।—उसमें भी उपरोक्तानुसार छह-छह कारक समझ लेना चाहिये।

—इस प्रकार, जीव-अजीव को परस्पर अकार्यकारणपना है।

(८५) यह बात किसे जमती है ?

देखो, यह भेदज्ञान! ऐसी स्पष्ट बात होने पर भी, इन बात को 'छूत की बीमारी, एकान्त' इत्यादि कहकर कितने ही विरोध करते हैं, क्योंकि अपनी मानी हुई विपरीत बात का आग्रह उनके नहीं छूटता। अरे! विपरीत मान्यताओं को सत्य मान बैठे हैं तो उसे कैसे छोड़ें? पण्डित टोडरमलजी भी मोक्षमार्गप्रकाशक में कहते हैं कि — अन्यथा श्रद्धा को सत्य श्रद्धा माननेवाला जीव, उसके नाश का उपाय भी किसलिए करेगा? यह बात तो उसे जम सकती है, जिसे मान और आग्रह छोड़कर आत्मा का हित करना हो।

(८६) 'करे तथापि अकर्ता' - ऐसा नहीं है

यहाँ जो बात कही जा रही है, उस पर से कुछ लोग समझे बिना ऐसा कहते हैं कि —'ज्ञानी पर के कार्य करता अवश्य है, किन्तु वह अकर्ता है।' किन्तु यह बात मिथ्या है। 'अकर्ता' और फिर 'करता है'—यह बात लाया कहाँ से ? यहाँ तो ऐसा कहा जाता है कि—ज्ञानी या अज्ञानी कोई पर का कर्ता नहीं है, पर का कार्य कोई कर ही नहीं सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है; उसमें किसी अन्य का कर्तापना है ही नहीं। कर्तृत्व देखनेवाला अपने ज्ञानस्वभाव से भ्रष्ट होकर देखता है; इसलिए उल्टा देखता है; यदि ज्ञायक रहकर देखे तो कर्तापना न माने। वस्तुस्वरूप तो जैसा है, वैसा ही रहता है। अज्ञानी विपरीत माने, उससे कहीं वस्तुस्वरूप अन्यथा नहीं हो जाता।

(८७) यदि कुम्हार घड़ा बनाये तो....

जीव और अजीव समस्त द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होते हैं। अजीव में से प्रत्येक परमाणु भी अपनी क्रमबद्ध-अवस्थारूप से स्वयं उत्पन्न होता है; उसकी वर्ण-गन्धादिरूप अर्थपर्याय भी क्रमबद्ध उसी से है; और घड़ा आदि के आकाररूप व्यंजनपर्याय भी क्रमबद्ध उसी से है। मिट्टी घड़ेरूप उत्पन्न हुई, वहाँ उसकी व्यंजनपर्याय (आकृति) कुम्हारे ने की-ऐसा नहीं है। घड़ेरूप से मिट्टी स्वयं उत्पन्न हुई है और मिट्टी ही उसमें व्याप्त है, कुम्हार व्याप्त नहीं है; इसलिए कुम्हार उसका कर्ता नहीं है। 'निमित्त बिना नहीं होता'—इस बात का यहाँ काम नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामों के साथ तद्रूप-तन्मय है। जीव यदि अजीव की अवस्था को करे (जैसे कि-कुम्हार घड़ा बनाये) तो अजीव की अवस्था के साथ तद्रूपता होने से वह स्वयं भी अजीव हो जायेगा। यदि निमित्त के अनुसार कार्य होता हो तो अजीव के निमित्त से आत्मा भी अजीव हो जायेगा—इत्यादि अनेक दोष आ पड़ेंगे।

(८८) 'योग्यता' कब मानी कहलाती है ?

प्रश्न : एक प्याले में पानी भरा है, पास में अनेक प्रकार के लाल, हरे आदि रंग रखे हैं, उनमें से जैसा रंग लेकर पानी में डालेंगे, वैसा ही पानी का रंग हो जायेगा। उस पानी में योग्यता तो सर्व प्रकार की है, किन्तु जिस रंग का निमित्त देंगे, उसी रंग का वह हो जायेगा; इसलिए निमित्तानुसार ही कार्य होता है ! भले ही उसकी योग्यता से होता है, किन्तु जैसा निमित्त आता है, वैसा होता है ?

उत्तर : अरे भाई! तेरी सब बात उल्टी है। योग्यता कहना, और फिर निमित्त आये वैसा होता है—ऐसा कहना, यह बात विरुद्ध है। निमित्त आये वैसा होता है—ऐसा माननेवाले ने 'योग्यता' को माना ही नहीं, अर्थात् वस्तु के स्वभाव को ही नहीं माना। पानी के परमाणुओं में जिस समय जैसी हरे या लाल रंगरूप होने की योग्यता है, उसी रंगरूप वे परमाणु स्वयं उत्पन्न होते हैं, दूसरा कोई निमित्त उसमें रंग ला सके या फेरफार कर सके-ऐसा नहीं है, क्योंकि रंग के परमाणु पृथक् और पानी के परमाणु भी पृथक्; इसलिए रंग का निमित्त आने से पानी के परमाणुओं का रंग बदला—ऐसा भी नहीं है परन्तु पानी के परमाणु ही स्वयं अपनी वैसी रंग-अवस्थारूप से परिणमित हुए हैं।

आटे के परमाणुओं में से रोटी की अवस्था होशियार स्त्री ने की है-ऐसा नहीं है, किन्तु स्वयं वे परमाणु ही उस अवस्थारूप से उत्पन्न हैं।—यह बात भी ऊपर के दृष्टान्त-अनुसार समझ लेना चाहिए।

स्कन्ध में रहनेवाला प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्ररूप से अपनी क्रमबद्धयोग्यता से परिणमित होता है; स्कन्ध के अन्य परमाणुओं के कारण वह स्थूलरूप परिणमित हुआ—ऐसा नहीं है, किन्तु उसी में स्थूलरूप से परिणमित होने की स्वतन्त्र योग्यता हुई है। देखो, एक परमाणु पृथक् हो, तब उसमें स्थूल परिणमन नहीं होता, किन्तु उसके स्कन्ध में मिलता है, तब उसमें स्थूल परिणमन होता है, तो उसके परिणाम में इतना फेरफार हुआ या नहीं?—हाँ, फेरफार तो हुआ है, किन्तु वह किसके कारण?-तो कहते हैं कि अपनी ही क्रमबद्धपर्याय के कारण; पर के कारण नहीं। एक पृथक् परमाणु स्थूल स्कन्ध में मिला, वहाँ वह जैसा पृथक् था, वैसा ही स्कन्ध में नहीं रहा किन्तु सूक्ष्म में से स्थूलस्वभावरूप से उसका परिणमन हुआ है। उसमें सर्वथा फेरफार नहीं हुआ—ऐसा भी नहीं है, और पर के कारण फेरफार हुआ—ऐसा भी नहीं है। उसकी अपनी योग्यता से ही उसमें फेरफार अर्थात् सूक्ष्मता में से स्थूलतारूप परिणमन हुआ है। जिस प्रकार एक पृथक् परमाणु में स्थूलतारूप परिणमन नहीं होता, उसी प्रकार स्थूल स्कन्ध में भी यदि उसका स्थूल परिणमन न होता हो तो यह शरीरादि नोकर्म इत्यादि कुछ सिद्ध ही नहीं होंगे। पृथक् परमाणु स्थूल स्कन्ध में मिलने से उसमें स्थूलतारूप परिणमन तो होता है, किन्तु वह पर के कारण नहीं होता, उसकी अपनी योग्यता से होता है।

(८९) क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले को 'अभाग्य' होता ही नहीं

'अभाग्य से कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र का निमित्त बन जाये तो उल्टा अतत्त्वश्रद्धान पुष्ट हो जाता है'—ऐसा मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है, किन्तु वहाँ भी वैसे निमित्तों के सेवन का विपरीत भाव कौन करता है? वास्तव में तो अपना जो विपरीत भाव है, वही अभाग्य है। आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की ओर झुककर जिसने क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया, उसके ऐसा अभाग्य होता ही नहीं-अर्थात् कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का सेवन उसके होता ही नहीं।

आत्मा ज्ञायक है और वस्तु की पर्याय क्रमबद्धरूप से स्वयं होती है—ऐसे वस्तुस्वरूप को जो नहीं जानता, उसका ज्ञान सच्चा नहीं होता, और सच्चे ज्ञान बिना निर्मलपर्याय अर्थात् शान्ति या धर्म नहीं होता।

(९०) स्वाधीनदृष्टि से देखनेवाला-ज्ञाता

आइस (बर्फ) डालने से पानी की ठण्डी अवस्था हुई—ऐसा नहीं है; पानी में शक्कर डाली, इसलिए उस शक्कर के कारण पानी के परमाणुओं में मीठी अवस्था हुई—ऐसा नहीं है; वे परमाणु स्वाधीनरूप से वैसी अवस्थारूप परिणमित हुए हैं। अपने आत्मा को स्वाधीनदृष्टि से ज्ञायकभाव से परिणमित देखनेवाला, जगत के समस्त पदार्थों को भी स्वाधीन परिणमित देखता है; इसलिए वह ज्ञाता ही है, अकर्ता ही है। आत्मा तो अजीव के कार्य को नहीं करता, किन्तु एक स्कन्ध में रहनेवाले अनेक परमाणुओं में भी एक परमाणु दूसरे परमाणु का कार्य नहीं करता।—ऐसी स्वतन्त्रता है।

(९१) संस्कार की सार्थकता, तथापि पर्याय की क्रमबद्धता

प्रश्न : प्रवचनसार के ४७ नयों में तो कहा है कि अस्वभावनय से आत्मा संस्कार को सार्थक करनेवाला है; जिस प्रकार लोहे के तीर में संस्कार डालकर लुहार नई नोंक निकालता है, उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में नये संस्कार पड़ते हैं—ऐसा है तो फिर पर्याय की क्रमबद्धता का नियम कहाँ रहा?

उत्तर : पर्याय निरन्तर नयी-नयी होती है, आत्मा अपनी पर्याय में जैसे संस्कार डालते हैं वैसी पर्याय होती है। अनादि से पर्याय में मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान थे, उनके बदले अब ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलने से वे मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान दूर होकर, सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के अपूर्व संस्कार पड़े; इसलिए पर्याय में नये संस्कार कहे, तथापि वहाँ क्रमबद्धपर्याय का नियम नहीं टूटा है। क्या सर्वज्ञभगवान ने

जैसा नहीं देखा था और हो गया ? अथवा क्या क्रमबद्धपर्याय में वैसा नहीं था और हो गया ?–ऐसा नहीं है। स्वयं अपने ज्ञायकस्वभाव–सन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा निर्मलपर्यायरूप उत्पन्न हुआ वहाँ, केवलीभगवान ने क्रमबद्धपर्याय में जो निर्मलपर्याय होना देखा था, वही पर्याय आकर उपस्थित हो गयी। इस प्रकार, ज्ञायकस्वभाव का पुरुषार्थ करनेवाले को पर्याय में मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन के अपूर्व नये संस्कार पड़े बिना नहीं रहते और क्रमबद्धपर्याय का क्रम भी नहीं टूटता।—ऐसा मेल ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के बिना समझ में नहीं आयेगा।

(९२) क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन ?

जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है और क्रमबद्धपर्याय में आगा–पीछा करना मानता है, उसे जीव–अजीव द्रव्यों की खबर नहीं है; इसलिए मिथ्याज्ञान है। जो पर का कर्तृत्व मानता है, उसे तो अभी पर से भिन्नत्व का भी भान नहीं है; पर से भिन्नत्व को जाने बिना अन्तर में ज्ञान और राग की भिन्नता उसके ख्याल में नहीं आ सकेगी। यहाँ तो ऐसी बात है कि जो अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ढला, वह क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है। राग को भी वह ज्ञान से भिन्न ज्ञेयरूप जानता है। ऐसा ज्ञाता, रागादि का अकर्ता ही है।

चौथा प्रवचन

[आश्विन कृष्णा ३०, वीर संवत् २४८०]

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि द्वारा ही होता है, इसलिए उसमें जैनशासन आ जाता है। जो अबद्धस्पृष्ट आत्मा को देखता है, वह समस्त जिनशासन को देखता है—ऐसा पन्द्रहवीं गाथा में कहा है; और यहाँ – 'जो ज्ञायकदृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करता है, वह समस्त जिनशासन को देखता है'—ऐसा कहा जाता है;—उन दोनों का तात्पर्य एक ही है। दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके जहाँ ज्ञा... य... क पर दृष्टि स्थिर की, वहाँ सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान के साथ चारित्र, आनन्द, वीर्यादि का भी शुद्धपरिणमन होने लगा, यही जैनशासन है।

(९३) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सात तत्त्वों की श्रद्धा

जीव और अजीव दोनों की अवस्था उस–उस काल क्रमबद्ध स्वतन्त्र होती है, उन्हें एक–

दूसरे के साथ कार्यकारणपना नहीं है। जीव का ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञायक को जानने की मुख्यतापूर्वक क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है।—ऐसी प्रतीति में सातों तत्त्वों की श्रद्धा भी आ जाती है; इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन इसमें आ जाता है। सातों तत्त्वों की श्रद्धा किस प्रकार आती है, वह कहते हैं:—

(१-२) अपने ज्ञानादि अनन्त गुणों को ज्ञेय बनाकर क्रमबद्ध ज्ञाता-दृष्टा परिणामरूप से मैं उत्पन्न होता हूँ और उसमें मैं तन्मय हूँ—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति में जीवतत्त्व की प्रतीति आ गयी; ज्ञाता-दृष्टारूप से उत्पन्न हुआ मैं जीव हूँ, अजीव नहीं हूँ—इस प्रकार अजीव से भिन्नत्व का—कर्म के अभाव आदि का—ज्ञान भी आ गया; इसलिये अजीवतत्त्व की प्रतीति हो गयी।

(३-४-५-६) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से श्रद्धा-ज्ञान निर्मल हुए हैं, चारित्र में भी अंशतः शुद्धता प्रगट हुई है और अभी साधकदशा होने से अमुक रागादि भी होते हैं। वहाँ श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का जितना निर्मल परिणमन है, उतने ही संवर-निर्जरा हैं, और जितने रागादि होते हैं, उतने ही अंश में आस्रव-बन्ध है। साधक को उस शुद्धता और अशुद्धता दोनों का ज्ञान रहता है; इसलिये उसे आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरातत्त्वों की प्रतीति आ गयी।

(७) पर का अकर्ता होकर ज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होने से क्रमबद्धपर्याय में अंशतः शुद्धता प्रगट हुई है और अभी इसी क्रम से ज्ञायकस्वभाव में पूर्ण एकाग्र होने से पूर्ण ज्ञाता-दृष्टापना (केवलज्ञान) प्रगट हो जायेगा और मोक्षदशा हो जायेगी—ऐसी श्रद्धा होने से मोक्षतत्त्व की प्रतीति भी उसमें आ गयी।

इस प्रकार, ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करने से उसमें 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' भी आ जाता है।

(९४) सदोष आहार छोड़ने का उपदेश और क्रमबद्धपर्याय-उसका मेल

प्रश्न : यदि पर्याय क्रमबद्ध होती है, आहार भी जो आना हो, वही आता है, तो फिर—'मुनियों को सदोष आहार छोड़कर निर्दोष आहार लेना चाहिये'—ऐसा उपदेश किसलिये ?

उत्तर : वहाँ ऐसी पहचान करायी है कि जहाँ मुनिदशा हुई हो, वहाँ इस प्रकार का सदोष आहार लेने का भाव होता ही नहीं; उस भूमिका का क्रम ही ऐसा है कि वहाँ सदोष आहार लेने की वृत्ति ही नहीं होती। ऐसा आहार लेना चाहिए और ऐसा छोड़ना चाहिए—यह तो निमित्त का कथन है, किन्तु कोई ऐसा कहे कि—'भले ही सदोष आहार आना होगा तो सदोष आयेगा, किन्तु हमें

उसके ग्रहण की वृत्ति नहीं है।'—तो वह स्वच्छन्दी है, उसकी दृष्टि तो आहार पर है, ज्ञायक पर उसकी दृष्टि तो नहीं है। मुनियों के तो ज्ञान में इतनी अधिक सरलता हो गई कि—'यह आहार मेरे लिये बनाया होगा!' इतनी वृत्ति उठे तो भी (-फिर भले ही वह आहार उनके लिये किया हुआ न हो और निर्दोष हो तो भी) वह आहार लेने की वृत्ति छोड़ देते हैं; और कदाचित् उद्देशिक (-मुनि के लिये बनाया हुआ) आहार हो, किन्तु यदि स्वयं को शंका की वृत्ति न उठे और वह आहार ले लें तो भी मुनि को वहाँ कुछ भी दोष नहीं लगता। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले का जोर अपने ज्ञानस्वभाव की ओर जाता है; पुरुषार्थ का जोर ज्ञायकस्वभाव की ओर ढले बिना क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो ही नहीं सकता।

(९५) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में जैनशासन

देखो, अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया, वहाँ अपनी क्रमबद्धपर्याय में ज्ञातापने की ही अधिकता हुई, और राग का भी ज्ञाता रहा। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि द्वारा ही होता है, इसीलिये उसमें जैनशासन आ जाता है। जो अबद्धस्पृष्ट आत्मा को देखता है, वह समस्त जिनशासन को देखता है—ऐसा पन्द्रहवीं गाथा में कहा, और यहाँ—'जो ज्ञायकदृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करता है, वह समस्त जिनशासन को देखता है'—ऐसा कहा जाता है; उन दोनों का तात्पर्य एक ही है। दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके जहाँ ज्ञा... य... क पर दृष्टि स्थिर की, वहाँ सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के साथ चारित्र, आनन्द, वीर्यादि का भी शुद्ध परिणमन होने लगा, यही जैनशासन है; फिर वहाँ साधकदशा में चारित्र की अस्थिरता का राग और कर्म का निमित्तादि कैसे होते हैं, वह भी स्व-परप्रकाशक ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हो जाता है।

जिस जीव में या अजीव में, जिस समय जिस पर्याय की योग्यता का काल है, उस समय उस पर्यायरूप से वह स्वयं परिणमित होता है, किसी अन्य निमित्त के कारण वह पर्याय नहीं होती। ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णय करनेवाला जीव, अपने ज्ञायकभाव का आश्रय करके ज्ञाता-दृष्टाभावरूप से ही उत्पन्न होता है, किन्तु अजीव के आश्रय से उत्पन्न नहीं होता। साधक होने से भले ही अधूरी दशा है, तथापि ज्ञायकस्वभाव के आश्रय की मुख्यता से ज्ञायकरूप ही उत्पन्न होता है, रागादि की मुख्यतारूप उत्पन्न नहीं होता। जिसने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया, वही वास्तव में सर्वज्ञ को जानता है, वही जैनशासन को जानता है, वही उपादान-

निमित्त और निश्चय-व्यवहार को यथार्थरूप से पहिचानता है। जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है, उसे वह कुछ भी यथार्थ-सच्चा नहीं होता।

(९६) आचार्यदेव के अलौकिक मंत्र

अहो! यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव के और अमृतचन्द्राचार्यदेव के अलौकिक मन्त्र हैं। जिसे आत्मा की परिपूर्ण ज्ञानशक्ति का विश्वास आ जाये, उसी को यह क्रमबद्धपर्याय समझ में आ सकती है। समयसार में आचार्यदेव ने जगह-जगह यह बात रखी है।—

मंगलाचरण में ही सबसे पहले कलश में शुद्धात्मा को नमस्कार करते हुए कहा था कि—'सर्वभावांतरच्छिदे' अर्थात् शुद्धात्मा अपने से अन्य सर्व जीवाजीव, चराचर पदार्थों को सर्व क्षेत्र-काल सम्बन्धी सर्व विशेषणों सहित, एक ही समय में जाननेवाला है। यहाँ सर्व क्षेत्र-काल सम्बन्धी जानना कहा, उसमें क्रमबद्धपर्याय होना आ ही गया। ('स्वानुभूत्या चकासते' अर्थात् अपनी अनुभवनक्रिया से प्रकाशित होता है—ऐसा कहकर उसमें स्व-परप्रकाशपना भी बतलाया है।)

फिर दूसरी गाथा में जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि—'क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तित अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण-पर्यायें अंगीकार की हैं।'—उसमें क्रमबद्धपर्याय की बात आ गई।

तत्पश्चात् 'अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव प्राप्त करती हुई वे-वे व्यक्तियाँ....' इस प्रकार ६२ वीं गाथा में कहा, उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की बात समा गई।

तत्पश्चात् कर्ताकर्म अधिकार की गाथा ७६-७७-७८ में 'प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य' ऐसे कर्म की बात की; वहाँ कर्ता, जो नवीन उत्पन्न नहीं करता तथा विकार करके अर्थात् फेरफार करके भी नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है, वह कर्ता का प्राप्य कर्म है—ऐसा कहा उसमें भी पर्याय का क्रमबद्धपना आ गया। द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय को प्रतिसमय प्राप्त करता है-पहुँच जाता है।

तत्पश्चात् पुण्य-पाप अधिकार की गाथा १६० 'सो सव्वणाणदरिसी...' में कहा है कि आत्मद्रव्य स्वयं ही 'ज्ञान' होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य-विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला है... किन्तु अपने पुरुषार्थ के अपराध से सर्व प्रकार से सम्पूर्ण ऐसे अपने को (अर्थात् सर्व प्रकार से सर्व ज्ञेयों को) जाननेवाले ऐसे अपने को नहीं जानता; इसलिये अज्ञानभाव से वर्तता है। यहाँ 'विश्व को सामान्य-विशेषरूप से जानने का स्वभाव' कहने से उसमें क्रमबद्धपर्याय की बात भी समा गई। जीव अपने सर्वज्ञस्वभाव को नहीं जानता, इसलिये

अज्ञानी है। यदि अपने सर्वज्ञस्वभाव को जाने तो उसमें क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जाये और अज्ञान न रहे।

आस्रव अधिकार में गाथा १६६ में 'स्वयं ज्ञानस्वभाववाला होकर, केवल जानता ही है'—ऐसा कहा, वहाँ ज्ञेयों का क्रमबद्धपना आ गया।

तत्पश्चात् संवर अधिकार में 'उपयोग उपयोग में ही है, क्रोध में या कर्म-नोकर्म में उपयोग नहीं है'—ऐसा कहा, वहाँ उपयोग के स्व-परप्रकाशकस्वभाव में क्रमबद्धपर्याय की बात भी सिद्ध हो जाती है।

फिर निर्जरा अधिकार गाथा २१६ में वेद्य और वेदक दोनों भावों की क्षणिकता बतलायी है; ये दोनों भाव कभी इकट्ठे नहीं होते-ऐसा होकर उनकी क्रमबद्धता बतलायी है। समय-समय की उत्पन्नध्वंसी पर्याय पर ज्ञानी की दृष्टि नहीं है, किन्तु ध्रुव ज्ञायकस्वभाव पर उसकी दृष्टि है, ध्रुव ज्ञायक पर दृष्टि रखकर वह क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है।

पश्चात् बन्ध अधिकार में १६८ वें कलश (सर्व सदैव नियतं....) में कहा है कि—इस जगत में जीवों को मरण, जीवित, दु:ख, सुख—सब सदैव नियम से अपने कर्म के उदय से होता है; 'दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दु:ख, सुख करता है,—ऐसा जो मानना है, वह तो अज्ञान है।' इसलिए आत्मा उस क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, किन्तु उसका बदलनेवाला नहीं है—यह बात उसमें आ गयी।

मोक्ष अधिकार में गाथा २९७-९८-९९ में छह कारकों का वर्णन करके, आत्मा को 'सर्वविशुद्धचिन्मात्रभाव' कहा। 'सर्वविशुद्धचिन्मात्र' कहने से सामनेवाले ज्ञेय पदार्थों के परिणाम भी क्रमबद्ध हैं—ऐसा उसमें आ गया।

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की चलती हुई (३०८ से ३११ वीं) गाथाओं में भी क्रमबद्धपर्याय की स्पष्ट बात की है।

दूसरे शास्त्रों में भी अनेक स्थानों पर यह बात की है। पण्डित बनारसीदासजी ने श्री जिनेन्द्र भगवान के १००८ नामों में 'क्रमवर्ती'—ऐसा भी एक नाम दिया है।

(९७) स्पष्ट और मूलभूत बात—'ज्ञानशक्ति का विश्वास'

यह तो सीधी और स्पष्ट बात है कि आत्मा ज्ञान है, सर्वज्ञता का उसमें सामर्थ्य है; सर्वज्ञता में क्या जानना शेष रह गया? सर्वज्ञता के सामर्थ्य पर जोर न आये तो क्रमबद्धपर्याय समझ में नहीं आ

सकती। इधर सर्वज्ञता के सामर्थ्य को प्रतीति में लिया, वहाँ ज्ञेयों में क्रमबद्धपर्यायें हैं, उसका निर्णय भी हो गया। इस प्रकार यह आत्मा के मूलभूत ज्ञायकस्वभाव की बात है। इसका निर्णय न करे तो सर्वज्ञ की भी सच्ची श्रद्धा नहीं होती। जिसे आत्मा की ज्ञानशक्ति का ही विश्वास न आये, उसे जैनशासन की एक भी बात समझ में नहीं आ सकती।

सम्यक्त्वी अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करके ज्ञातापने के क्रमबद्धपरिणामरूप उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, किन्तु कर्म का आश्रय करके उत्पन्न नहीं होता; इसलिये अजीव नहीं है।

तत्पश्चात् स्वरूप में विशेष एकाग्रता द्वारा छट्ठे-सातवें गुणस्थानरूप मुनिदशा प्रगट हुई, उस मुनिदशारूप भी जीव स्वयं ही अपने क्रमबद्धपरिणाम से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, किन्तु निर्दोष आहारादि के आश्रय से उस पर्यायरूप से उत्पन्न नहीं होता; इसलिये अजीव नहीं है।

फिर केवलज्ञानदशा हुई, उसमें भी जीव स्वयं ही क्रमबद्ध-परिणमित होकर उस अवस्थारूप से उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह जीव ही है, फिर चौथा काल या शरीर का संहनन आदि अजीव के कारण वह अवस्था उत्पन्न नहीं हुई, तथा जीव ने उस अजीव की अवस्था नहीं की, इसलिये वह अजीव नहीं है।

(९८) अहो! ज्ञाता की क्रमबद्धधारा!

देखो, यह ज्ञाता की क्रमबद्धपर्याय! इसमें तो केवलज्ञान का समावेश होता है, मोक्षमार्ग आ जाता है, सम्यग्दर्शन आ जाता है; और इससे विरुद्ध माननेवाला अज्ञानी कैसा होता है, उसका ज्ञान भी आ जाता है। जीव और अजीव सभी तत्त्वों का निर्णय इसमें आ जाता है।

देखो, यह सत्य की धारा!-ज्ञायकभाव का क्रमबद्धप्रवाह!! ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव में एकता द्वारा सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ करके ठेठ केवलज्ञान तक अकेले ज्ञायकभाव की क्रमबद्धधारा चली जाती है।

शास्त्र में उपदेश कथन अनेक प्रकार के आते हैं। उस-उस काल में सन्तों को वैसे विकल्प उठने से उस प्रकार की उपदेशवाणी निकली; वहाँ ज्ञाता तो अपने ज्ञायकभाव की धारारूप से उत्पन्न होता हुआ उस वाणी और विकल्प का ज्ञाता ही है, किन्तु उसमें तन्मय होकर उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

जगत का कोई पदार्थ बीच में आकर जीव की क्रमबद्धपर्याय को बदल दे—ऐसा तीनकाल में नहीं होता; जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है; इसी प्रकार अजीव

भी उसकी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। जो जीव ऐसा निर्णय और भेदज्ञान नहीं करता, वह अज्ञानरूप से भ्रान्ति में भ्रमण कर रहा है।

(९९) ज्ञान के निर्णय में क्रमबद्ध का निर्णय

प्रश्न : तीन काल की पर्याय क्रमबद्ध है, तथापि कल की बात भी ज्ञात क्यों नहीं होती ?

उत्तर : उसका जाननेवाला ज्ञायक कौन है, उसका तो पहले निर्णय करो। ज्ञाता का निर्णय करने से तीन काल की क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जायेगा; और देखो ! गई कल को शनिवार था और कल सोमवार ही आयेगा, उसके बाद मंगलवार ही आयेगा—इस प्रकार सातों वारों की क्रमबद्धता जानी जा सकती है या नहीं ? ''बहुत समय बाद कभी सोमवार के पश्चात् शनिवार आ जायेगा तो ? अथवा रविवार के बाद बुधवार आ जायेगा तो ! ....ऐसी शंका कभी नहीं होती क्योंकि उस प्रकार का क्रमबद्धता का निर्णय हुआ है। उसी प्रकार आत्मा के केवलज्ञान स्वभाव की प्रतीति करने से समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है। यहाँ तो 'क्रमबद्धपर्याय'' कहने से ज्ञायक का निर्णय करने का प्रयोजन है। ज्ञाता अपने स्वभावसन्मुख होकर परिणमित हुआ, वहाँ स्वयं स्वकाल में क्रमबद्ध परिणमित होता है और उसका स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ, वह पर को भी क्रमबद्धपरिणमित जानता है, इसलिये उनका वह कर्ता नहीं होता।

(१००) ''निमित्त न आये तो ?''-ऐसा कहनेवाला निमित्त को नहीं जानता

प्रश्न : यदि वस्तु की क्रमबद्धपर्याय अपने आप निमित्त के बिना हो जाती हो तो, यह पीछी यहाँ पड़ी है, उसे हाथ के निमित्त बिना ऊपर उठा दीजिये !

उत्तर : अरे भाई ! पीछी की अवस्था पीछी में और हाथ की अवस्था हाथ में; उसमें तू क्या कर सकता है ? पीछी उसके क्षेत्रान्तर की क्रमबद्धपर्याय से ही ऊपर उठती है, और उस समय हाथ आदि निमित्त भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से होते ही हैं, न हों ऐसा नहीं होता। इसप्रकार निमित्त का अस्तित्व होने पर भी उसे जो नहीं मानता, और ''निमित्त न आये तो.....'' ऐसा तर्क करता है, वह क्रमबद्धपर्याय को या उपादान-निमित्त को समझा ही नहीं है। 'है' फिर 'न हो तो....' यह प्रश्न ही कहाँ से आया ?

(१०१) 'निमित्त बिना कार्य नहीं होता'-इसका आशय क्या ?

उपादान-निमित्त की स्पष्टता का प्रचार होने से अब कुछ लोग ऐसी भाषा का उपयोग करते हैं कि—''निमित्त भले ही कुछ नहीं करता, किन्तु उसके बिना तो कार्य नहीं होता न !'' किन्तु

गहराई से तो उनके भी निमित्ताधीन दृष्टि ही पड़ी है। निमित्त होता है, उसे प्रसिद्ध करने के लिये शास्त्र में भी ऐसा कहा जाता है कि ''निमित्त के बिना नहीं होता;'' किन्तु ''कार्य होना हो, और निमित्त न आये तो नहीं हो सकता''—ऐसा उसका अर्थ नहीं है। देवसेनाचार्य, नयचक्र पृष्ठ ५२-५३ में कहते हैं कि—''यद्यपि मोक्षरूपी कार्य में भूतार्थ से जाना हुआ आत्मा आदि उपादानकारण है, तथापि वह सहकारी कारण बिना सिद्ध नहीं होता; इसलिए सहकारी कारण की प्रसिद्धि के लिये निश्चय और व्यवहार का अविनाभाव सम्बन्ध बतलाते हैं।'' इसमें तो क्रमबद्धपर्याय में उपादान की योग्यता के समय उस प्रकार का निमित्त होता है—ऐसा ज्ञान कराया है; कोई अज्ञानी, निमित्त को सर्वथा न मानता हो तो, ''निमित्त बिना नहीं होता''—ऐसा कहकर निमित्त की प्रसिद्धि करायी है अर्थात् उसका ज्ञान कराया है, किन्तु उससे निमित्त आया, इसलिए कार्य हुआ और निमित्त न होता तो वह पर्याय नहीं होती''—ऐसा उसका सिद्धान्त नहीं है। 'निमित्त बिना नहीं होता'—इसका आशय इतना ही है कि जहाँ-जहाँ कार्य होता है, वहाँ वह होता है, न हो—ऐसा नहीं हो सकता। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन होता है परन्तु निमित्त की मुख्यता से कहीं पर कार्य नहीं होता। शास्त्रों में तो निमित्त के और व्यवहार के अनेक लेख भरे हैं; किन्तु स्व-परप्रकाशक जागृत हुए बिना उनका आशय स्पष्ट कौन करेगा ?

(१०२) शास्त्रों के उपदेश के साथ क्रमबद्धपर्याय की सन्धि

कुन्दकुन्दाचार्यदेव की आज्ञा से वसुबिन्दु अर्थात् जयसेनाचार्यदेव ने दो दिन में ही एक प्रतिष्ठापाठ की रचना की है, उसमें जिनेन्द्र-प्रतिष्ठा सम्बन्धी क्रियाओं का प्रारम्भ से लेकर अन्त तक का वर्णन किया है। प्रतिमाजी के लिये ऐसा पाषाण लाना चाहिए, ऐसी विधि से लाना चाहिए; ऐसे कारीगरों के पास ऐसी प्रतिमा बनवाना चाहिए तथा अमुक विधि के लिये मिट्टी लेने जाये, वहाँ जमीन खोदकर मिट्टी ले ले और फिर बढ़ी हुई मिट्टी से वह गड्ढा पूरने पर यदि मिट्टी बढ़े तो उसे शुभ शकुन समझना चाहिए।—इत्यादि अनेक विधियों का वर्णन आता है, किन्तु आत्मा का ज्ञायकपना रखकर वह सब बात है। ज्ञायकपने से च्युत होकर या क्रमबद्धपने को तोड़कर वह बात नहीं है। प्रतिष्ठा करानेवाले को उस प्रकार का विकल्प होता है और मिट्टी आदि की वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—उसकी वहाँ पहिचान करायी है, किन्तु ऐसा नहीं बतलाया है कि अजीव की पर्याय जीव कर देता है। प्रतिष्ठा में 'सिद्धचक्रमण्डलविधान' और 'यागमण्डलविधान' आदि के बड़े-बड़े रङ्ग-बिरङ्गे मण्डल रचे जाते हैं, और शास्त्र में भी उनका उपदेश आता है, तथापि वह

सब क्रमबद्ध ही है; शास्त्र में उसका उपदेश दिया, इसलिए उसको क्रमबद्धता मिट गयी या जीव उसका कर्ता हो गया-ऐसा नहीं है। ज्ञाता तो अपने को जानता हुआ उसे भी जानता है, और क्रमबद्धपर्याय से स्वयं अपने ज्ञायकभावरूप उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार मुनि को समिति के उपदेश में भी 'देखकर चलना, विचारकर बोलना, वस्तु को यत्नपूर्वक उठाना-रखना'—इत्यादि कथन आता है, किन्तु उसका आशय यह बतलाने का नहीं है कि शरीर की क्रिया को जीव कर सकता है। मुनिदशा में उस-उस प्रकार का प्रमादभाव होता ही नहीं, हिंसादि का अशुभभाव होता ही नहीं-ऐसा ही मुनिदशा की क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप है—यह बतलाया है। निमित्त से कथन करके समझायें, तो उससे कहीं क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त नहीं टूट जाता है।

(१०३) स्वयंप्रकाशी ज्ञायक

शरीरादि का प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्ररूप से अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमित हो रहा है, उसे कोई दूसरा अन्यथा बदल दे—ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता। अहो! भगवान आत्मा तो स्वयंप्रकाशी है, अपने ज्ञायकभाव द्वारा वह स्व-पर का प्रकाशक ही है; किन्तु अज्ञानी को उस ज्ञायकस्वभाव की बात नहीं जमती। मैं ज्ञायक क्रमबद्धपर्यायों को यथावत् जाननेवाला हूँ—सदा जाननेवाला ही हूँ, किन्तु किसी को बदलनेवाला नहीं हूँ—ऐसा स्वसन्मुख प्रतीति न करके अज्ञानी जीव कर्ता होकर पर को बदलना मानता है, वह मिथ्या-मान्यता ही संसारपरिभ्रमण का मूल है।

सर्व जीव स्वयंप्रकाशी ज्ञायक हैं; उसमें—

(१) केवली भगवान 'पूर्ण ज्ञायक' हैं; (उनके ज्ञायकपना पूर्ण व्यक्त हो गया है।)

(२) सम्यक्त्वी-साधक 'अपूर्ण ज्ञायक' हैं; (उनके पूर्ण ज्ञायकपना प्रतीति में आ गया है, किन्तु अभी पूर्ण व्यक्त नहीं हुआ।)

(३) अज्ञानी 'विपरीत ज्ञायक' हैं; (उन्हें अपने ज्ञायकपने की खबर नहीं है।)

ज्ञायकस्वभाव की अप्रतीति, वह संसार;

ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति द्वारा साधकदशा, वह मोक्षमार्ग; और ज्ञायकस्वभाव पूर्ण विकसित हो जाये, वह केवलज्ञान और मोक्ष है।

(१०४) प्रत्येक द्रव्य 'निजभवन' में ही बिराजमान है

जगत में प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तद्रूप है, किन्तु पर के साथ तद्रूप नहीं

है। अपने-अपने भाव का जो 'भवन' है, उसी में प्रत्येक द्रव्य बिराजमान है। जीव के गुण-पर्यायें, वह जीव का भाव है और जीव भाववान है; अजीव के गुण-पर्यायें, वह उसका भाव है और अजीव भाववान है। अपने-अपने भाव का जो भवन अर्थात् परिणमन-उसी में सब द्रव्य बिराजमान हैं। जीव के भवन में अजीव नहीं जाता-प्रवेश नहीं करता, और अजीव के भवन में जीव प्रविष्ट नहीं होता। इसी प्रकार एक जीव के भवन में दूसरा जीव प्रवेश नहीं करता और एक अजीव के भवन में दूसरा अजीव नहीं जाता। जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य तीनों काल अपने-अपने निज भवन में (निज परिणमन में) बिराजमान है; अपने निज भवन में से बाहर निकलकर दूसरे के भवन में कोई द्रव्य नहीं जाता।

सुदृष्टितरंगिणी में छह मुनियों का उदाहरण देकर कहा है कि—जिस प्रकार एक गुफा में बहुत समय से छह मुनिराज रहते हैं; किन्तु कोई किसी से मोहित नहीं है, उदासीनता सहित एक गुफा में रहते हैं, छहों मुनिवर अपनी-अपनी स्वरूपसाधना में ऐसे लीन हैं कि दूसरे मुनि कब क्या करते हैं उस पर लक्ष्य ही नहीं जाता; एक-दूसरे से निरपेक्ष रहकर सब अपने-अपने में एकाग्र होकर बिराजमान हैं। उसी प्रकार इस चौदह ब्रह्माण्डरूपी गुफा में जीवादि छहों द्रव्य एक-दूसरे से निरपेक्षरूप से अपने-अपने स्वरूप में विराजमान हैं, कोई द्रव्य अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता; सर्व द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों में ही विद्यमान हैं; जगत की गुफा में छहों द्रव्य स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने स्वरूप में परिणमित हो रहे हैं। उसमें भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाववाला है, आत्मा के अतिरिक्त पाँचों द्रव्यों में ज्ञायकपना नहीं है।

(१०५) यह बात न समझनेवालों की कुछ भ्रमणायें

आत्मा ज्ञायक है और ज्ञायकस्वभावरूप से परिणमित होता हुआ वह क्रमबद्धपर्यायों का ज्ञाता ही है। इसमें ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि का अनन्तबल आता है—उसे न समझनेवाले अज्ञानी मूढ़ जीवों को इसमें एकान्त नियतपना ही भासित होता है, किन्तु उसके साथ स्वभाव और पुरुषार्थ, श्रद्धा और ज्ञानादि आ जाते हैं, वे उसे भासित नहीं होते।

कुछ लोग यह बात सुनने के बाद क्रमबद्धपर्याय की बातें करना सीखे हैं, किन्तु उसका ध्येय कहाँ जाता है और उसे समझनेवाले की दशा कैसी होती है, वह नहीं जानते; इसलिए वे भी भ्रमणा में ही रहते हैं।

'हम निमित्त बनकर पर की व्यवस्था में फेरफार कर दें'—ऐसा कुछ अज्ञानी मानते हैं, वे भी मूढ़ हैं।

प्रश्न : अगर ऐसा है, तो पच्चीस आदमियों को भोजन का निमन्त्रण देकर फिर चुपचाप बैठे रहें, तो क्या अपने आप रसोई बन जायेगी!!

उत्तर : भाई! यह तो अन्तर्दृष्टि की गहरी बात है, इस प्रकार अद्धर से यह नहीं जम सकती। जिसे निमन्त्रण देने का विकल्प आया, वह कहीं वीतराग नहीं है; इसलिए उसे विकल्प आये बिना नहीं रहेगा; किन्तु जीव को विकल्प आये, तो भी वहाँ वस्तु में क्रमबद्धरूप से जो अवस्था होना है, वही होती है। यह जीव विकल्प करे, तथापि सामनेवाली वस्तु में वैसी अवस्था नहीं भी होती; इसलिए विकल्प के कारण बाह्य कार्य होते हैं—ऐसा नहीं है और विकल्प होता है, उस पर भी ज्ञानी की दृष्टि का बल नहीं है।

(१०६) 'ज्ञानी क्या करते हैं'—वह अन्तर्दृष्टि के बिना नहीं जाना जा सकता

प्रश्न : शरीर में रोग का होना या मिटना, वह सब अजीव की क्रमबद्धपर्याय है-ऐसा ज्ञानी जानते हैं, तो भी वे दवा तो करते हैं, खाने-पीने में भी परहेज रखते हैं-सब करते हैं!

उत्तर : तुझे ज्ञायकभाव की खबर नहीं है, इसलिए अपनी बाह्यदृष्टि ने तुझे ज्ञानी सब करते दिखायी देते हैं, किन्तु ज्ञानी तो अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञायकभाव में ही तन्मयरूप से परिणमित ही रहे हैं, राग में तन्मय होकर भी वे परिणमित नहीं होते, और पर की कर्ताबुद्धि तो उनके स्वप्न में भी नहीं रही है। अन्तर्दृष्टि के बिना तुझे ज्ञानी के परिणमन की खबर नहीं पड़ सकती। ज्ञानी को अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है; इसलिए अस्थिरता में अमुक रागादि होते हैं, उन्हें वे जानते हैं, किन्तु अकेले राग को जानने की भी प्रधानता नहीं है। ज्ञायक को जानने की मुख्यतापूर्वक राग को भी जानते हैं; और अनन्तानुबन्धी रागादि उनके होते ही नहीं तथा ज्ञायकदृष्टि में स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी चालू ही है। जो स्वच्छन्द का पोषण करें—ऐसे जीवों के लिये यह बात नहीं है।

(१०७) दो पंक्तियों में अद्भुत रचना!

अहो! दो पंक्तियों की टीका में तो आचार्यदेव ने जगत के जीव और अजीव समस्त द्रव्यों की स्वतन्त्रता का नियम रखकर अद्भुत रचना की है। जीव अपने क्रमबद्धपरिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इसी प्रकार अजीव भी अपने क्रमबद्धपरिणामों से उत्पन्न होता अजीव ही है, जीव नहीं है। जीव, अजीव की पर्याय को करता है या अजीव, जीव की पर्याय को करता है;—ऐसा जो माने, उसे जीव-अजीव के भिन्नत्व की प्रतीति नहीं रहती अर्थात् मिथ्याश्रद्धा हो जाती है।

(१०८) 'अभाव' है, वहाँ 'प्रभाव' कैसे पाड़े ?

प्रश्न : एक-दूसरे का कुछ कर नहीं सकते, किन्तु परस्पर निमित्त होकर प्रभाव तो पाड़ते हैं न ?

उत्तर : किस प्रकार प्रभाव पाड़ते हैं ? क्या प्रभाव पाड़कर पर की अवस्था को कोई बदल सकता है ? कार्य हुआ, उसमें निमित्त का तो अभाव है, तब फिर उसने प्रभाव कैसे पाड़ा ? जीव अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से सत् है, किन्तु परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से वह असत् है, इसलिए परद्रव्य की अपेक्षा से वह अद्रव्य है, परक्षेत्र की अपेक्षा से वह अक्षेत्र है, परकाल की अपेक्षा से वह अकाल है, और परवस्तु के भाव की अपेक्षा से वह अभावरूप है; तथा इस जीव के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अन्य सर्व वस्तुएँ अद्रव्य-अक्षेत्र-अकाल और अभावरूप हैं। तब फिर कोई किसी में प्रभाव पाड़े, यह बात नहीं रहती। द्रव्य, क्षेत्र और भाव को तो स्वतन्त्र कहे, किन्तु काल अर्थात् स्वपर्याय पर के कारण (निमित्त के कारण) होती है-ऐसा माने, वह भी स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप को नहीं समझा है। प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है अर्थात् उसका स्वकाल भी अपने से-स्वतन्त्र है।

एक पण्डितजी ऐसा कहते हैं कि —'अमुक-अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में ऐसी शक्ति है कि निमित्त होकर दूसरे पर प्रभाव डालते हैं'—किन्तु यदि निमित्त प्रभाव डालकर पर की पर्याय को बदल देता हो तो दो वस्तुओं की भिन्नता ही कहाँ रही ? प्रभाव डालना कहना तो मात्र उपचार है। यदि पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अपनी पर्याय होना माने तो, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से स्वयं नहीं है—ऐसा हो जाता है; इसलिए अपनी नास्ति हो जाती है। इसी प्रकार स्वयं निमित्त होकर पर की अवस्था को करे तो सामनेवाली वस्तु की नास्ति हो जाती है; और कोई द्रव्य पर का कार्य करे तो द्रव्य पररूप है—ऐसा हो गया, इसलिए अपने रूप नहीं रहा। जीव के स्वकाल में जीव है और अजीव के स्वकाल में अजीव है; कोई किसी का कर्ता नहीं है।

पुनश्च, निमित्त की बलवानता बतलाने के लिये सूकरी के दूध का दृष्टान्त देते हैं कि—सूकरी के पेट में दूध तो बहुत भरा है, किन्तु दूसरा कोई उसे नहीं निकाल सकता; उसके छोटे-छोटे बच्चों के आकर्षक मुँह का निमित्त पाकर वह दूध झट उनके गले में उतर जाता है।—इसलिए देखो, निमित्त का कितना सामर्थ्य है !—ऐसा कहते हैं; किन्तु भाई ! दूध का प्रत्येक रजकण अपने स्वतन्त्र क्रमबद्धभाव से ही परिणमित हो रहा है। इसी प्रकार 'हल्दी और चूने के

मिलने से लाल रंग हुआ तो वहाँ एक-दूसरे पर प्रभाव डालकर नयी अवस्था हुई या नहीं ?'—ऐसा भी कोई कहते हैं, किन्तु वह बात सच्ची नहीं है। हल्दी और चूने के रजकण एकमेक हुए ही नहीं हैं, उन दोनों का प्रत्येक रजकण स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने क्रमबद्धपरिणाम से ही उस अवस्थारूप उत्पन्न हुआ है, किसी दूसरे के कारण वह अवस्था नहीं हुई। जिस प्रकार हार में अनेक मोती गुँथे हैं; उसी प्रकार द्रव्य में अनादि-अनन्त पर्यायों की माला है, उसमें प्रत्येक पर्यायरूपी मोती क्रमानुसार लगा है।

(१०९) प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तद्रूप है

पहले तो आचार्यदेव ने मूल नियम बतलाया कि जीव और अजीव दोनों द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; अब दृष्टान्त और उसका हेतु देते हैं। यहाँ दृष्टान्त भी 'सुवर्ण' का दिया है—जिस प्रकार सुवर्ण को कभी जंग नहीं लगती, उस प्रकार यह मूलभूत नियम कभी नहीं फिरता। जिस प्रकार कंकणादि पर्यायोंरूप से उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण का अपने कंकणादि परिणामों के साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। सुवर्ण में चूड़ी आदि जो अवस्था हुई, उस अवस्थारूप से वह स्वयं ही उत्पन्न हुआ है, स्वर्णकार नहीं; यदि स्वर्णकार वह अवस्था करता हो तो उसमें वह तद्रूप होना चाहिए; किन्तु स्वर्णकार और हथौड़ी तो एक ओर पृथक् रहने पर भी वह कंकणपर्याय तो रहती है; इसलिए स्वर्णकार या हथौड़ी उसमें तद्रूप नहीं हैं-सुवर्ण ही अपनी कंकणादि पर्याय में तद्रूप है। इस प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने-अपने परिणामों के साथ ही तादात्म्य है-पर के साथ नहीं।

देखो, यह मेज पर्याय है, इसमें उस लकड़ी के परमाणु ही तद्रूप होकर उत्पन्न हुए हैं; बढ़ई या आरी के कारण यह अवस्था हुई है—ऐसा नहीं है। यदि बढ़ई द्वारा यह मेज अवस्था हुई हो तो बढ़ई इसमें तन्मय होना चाहिए; किन्तु इस समय बढ़ई या आरी निमित्तरूप से न होने पर भी उन परमाणुओं में मेजपर्याय वर्त रही है; इसलिए निश्चित होता है कि यह बढ़ई का या आरी का काम नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का-उत्पन्न होती हुई अपनी क्रमबद्धपर्यायों के साथ ही तादात्म्यपना है, किन्तु साथ में संयोगरूप से रहनेवाली अन्य वस्तुओं के साथ उसका तादात्म्यपना नहीं है।—ऐसा होने से जीव को अजीव के साथ कार्य-कारणपना नहीं है; इसलिए जीव अकर्ता है-यह बात आचार्यदेव युक्तिपूर्वक सिद्ध करेंगे। ●●

पाँचवाँ प्रवचन

[आश्विन शुक्ला १, वीर सं० २४८०]

देखो, इस क्रमबद्धपर्याय में वास्तव में तो ज्ञानस्वभावी आत्मा की बात है, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन? 'ज्ञायक' को जाने बिना क्रमबद्धपर्याय को जानेगा कौन? ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर जो ज्ञायकस्वभावरूप से परिणमित हुआ, वह ज्ञायक अर्थात् अकर्ता हुआ, और वही क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ।

(११०) क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाला ज्ञायक, पर का अकर्ता है

यह सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार है; सर्वविशुद्धज्ञान अर्थात् शुद्धज्ञायकभाव, वह पर का अकर्ता है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है।

अपने ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव, पर का कर्ता नहीं है और पर उसका कार्य नहीं है। पर्याय नयी होती है, उस अपेक्षा से वह 'उत्पन्न होता है'-ऐसा कहा है। पहले वह पर्याय नहीं थी और नयी प्रगट हुई—इस प्रकार पहले की अपेक्षा से वह नयी उत्पन्न हुई कहलाती है; किन्तु उस पर्याय को निरपेक्षरूप से देखें तो प्रत्येक समय की पर्याय उस-उस समय का सत् है, उसकी उत्पत्ति और विनाश—वह तो पहले के और बाद के समय की अपेक्षा से है।

''द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती, अर्थात् द्रव्य और पर्याय-इन दो वस्तुओं के बिना कर्ताकर्मपना सिद्ध नहीं होता''—यह दलील तो तब आती है, जब कर्ताकर्मपना सिद्ध करना हो; किन्तु 'पर्याय भी निरपेक्ष सत् है'—ऐसा सिद्ध करना हो, वहाँ यह बात नहीं आती। प्रत्येक समय की पर्याय भी स्वयं अपने से सत् होने से 'द्रव्य से नहीं आलिङ्गित ऐसी शुद्धपर्याय है,' पर्याय, द्रव्य से आलिङ्गित नहीं है अर्थात् निरपेक्ष है। (देखो, प्रवचनसार गाथा १७२ टीका) यहाँ यह बात सिद्ध करना है कि अपनी निरपेक्ष क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होता हुआ जीव उसमें तद्रूप है। द्रव्य अपनी पर्याय के साथ तद्रूप—एकमेक है, किन्तु पर की पर्याय के साथ तद्रूप नहीं है; इसलिए उसका पर के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है—इस प्रकार ज्ञायक आत्मा अकर्ता है। यह कर्ताकर्म-अधिकार नहीं है किन्तु सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार है, इसलिए यहाँ ज्ञायकभाव, पर का अकर्ता है—ऐसा अकर्तापना सिद्ध करना है।

जीव अपने क्रमबद्धपरिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है-अजीव नहीं है। 'उत्पन्न होता

है'—कौन उत्पन्न होता है ? जीव स्वयं। जीव स्वयं जिस परिणामरूप से उत्पन्न होता है, उसके साथ उसे अनन्यपना-एकपना है; अजीव के साथ उसे अनन्यपना नहीं है; इसलिए उसे अजीव के साथ कार्य-कारणपना नहीं है। प्रत्येक द्रव्य को—स्वयं जिस परिणामरूप से उत्पन्न होता है—उसी के साथ अनन्यपना है, दूसरे के परिणामों के साथ उसे अनन्यपना नहीं है; इसलिए वह अकर्ता है। आत्मा भी अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होता हुआ उसके साथ तन्मय है; वह अपने ज्ञानपरिणाम के साथ एकमेक है, किन्तु पर के साथ एकमेक नहीं है; इसलिए वह पर का अकर्ता है। ज्ञायकरूप से उत्पन्न होते हुए जीव को कर्म के साथ एकपना नहीं है, इसलिए वह कर्म का कर्ता नहीं है; ज्ञायकदृष्टि में वह नये कर्मबन्धन को निमित्त भी नहीं होता; इसलिए वह अकर्ता ही है।

(१११) कर्म के कर्तापने का व्यवहार किसे लागू होता है ?

प्रश्न : यह तो निश्चय की बात है, किन्तु व्यवहार से तो आत्मा, कर्म का कर्ता है न ?

उत्तर : ज्ञायकस्वरूप आत्मा पर जिसकी दृष्टि नहीं है और कर्म पर दृष्टि है—ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव ही कर्म का व्यवहार से कर्ता है-यह बात आचार्यदेव अगली गाथाओं में कहेंगे। इसलिये जिसे अभी कर्म के साथ का सम्बन्ध तोड़कर ज्ञायकभावरूप परिणमित नहीं होना है, किन्तु कर्म के साथ कर्ताकर्मपने का व्यवहार रखना है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। मिथ्यात्वादि जड़कर्म के कर्तापने का व्यवहार अज्ञानी को ही लागू होता है।

प्रश्न : तो फिर ज्ञानी को कौन-सा व्यवहार ?

उत्तर : ज्ञानी के ज्ञान में तो अपने ज्ञायकस्वभाव को जानने की मुख्यता है, और मुख्य वह निश्चय है; इसलिए अपने ज्ञायकस्वभाव को जानना, वह निश्चय है; और साधकदशा में बीच में जो राग रहा है, उसे जानना, वह व्यवहार है। ज्ञानी को ऐसे निश्चय-व्यवहार एकसाथ वर्तते हैं, किन्तु, मिथ्यात्वादि कर्मप्रकृति के बन्धन में निमित्त हो या व्यवहार से कर्ता हो-ऐसा व्यवहार ज्ञानी के होता ही नहीं। उसे ज्ञायकदृष्टि के परिणमन में कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध टूट गया है। अगली गाथाओं में आचार्यदेव यह बात विस्तारपूर्वक समझायेंगे।

(११२) वस्तु का कार्यकाल

कार्यकाल कहो या क्रमबद्धपर्याय कहो; जीव का जो कार्यकाल है, उसमें उत्पन्न होता हुआ जीव उससे अनन्य है और अजीव के कार्यकाल से वह भिन्न है। जीव की जो पर्याय हो, उसमें अनन्यरूप से जीवद्रव्य उत्पन्न होता है। उस समय जगत के अन्य जीव-अजीवद्रव्य भी सब

अपने-अपने कार्यकाल में—क्रमबद्धपर्याय से—उत्पन्न होते हैं, किन्तु उन किसी के साथ इस जीव की एकता नहीं है।

उसी प्रकार, अजीव का जो कार्यकाल है, उसमें उत्पन्न होता हुआ अजीव उससे अनन्य है, और जीव के कार्यकाल से वह भिन्न है। अजीव के एक-एक परमाणु की जो पर्याय होती है, उसमें अनन्यरूप से वह परमाणु उत्पन्न होता है, उसे दूसरे के साथ एकता नहीं है। शरीर का हलन-चलन हो, भाषा बोली जाये—इत्यादि पर्यायोंरूप से अजीव उत्पन्न होता है, वह अजीव की क्रमबद्धपर्याय है, जीव के कारण वह पर्याय नहीं होती।

(११३) निषेध किसका ? निमित्त का या निमित्ताधीनदृष्टि का ?

प्रश्न : आप क्रमबद्धपर्याय होना कहते हैं, उसमें निमित्त का तो निषेध हो जाता है।

उत्तर : क्रमबद्धपर्याय मानने से निमित्त का सर्वथा निषेध नहीं हो जाता, किन्तु निमित्ताधीनदृष्टि का निषेध हो जाता है। पर्याय में अमुक निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध भले हो, किन्तु यहाँ ज्ञायकदृष्टि में उसकी बात नहीं है। क्रमबद्धपर्याय मानने से निमित्त होने का सर्वथा निषेध भी नहीं होता तथा निमित्त के कारण कुछ होता है—यह बात भी नहीं रहती। निमित्त पदार्थ उसके क्रमबद्ध स्वकाल से अपने में उत्पन्न होता है और नैमित्तिक पदार्थ भी उसके स्वकाल से अपने में उत्पन्न होता है; इस प्रकार दोनों का भिन्न-भिन्न अपने में परिणमन हो ही रहा है। 'उपादान में पर्याय होने की योग्यता तो है, किन्तु यदि निमित्त आये तो होती है, और न आये तो नहीं होती'—यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। पर्याय होने की योग्यता हो और पर्याय न हो-ऐसा हो ही नहीं सकता। उसी प्रकार, यहाँ क्रमबद्धपर्याय होने का काल हो और उस समय उसके योग्य निमित्त न हो-ऐसा भी हो ही नहीं सकता। यद्यपि निमित्त तो परद्रव्य है, वह कहीं उपादान के आधीन नहीं है; किन्तु वह परद्रव्य उसके अपने लिये तो उपादान है और उसका भी क्रमबद्धपरिणमन हो ही रहा है। यहाँ, आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख के क्रमबद्धपरिणमन से छट्ठे-सातवें गुणस्थान की भावलिङ्गी मुनिदशा प्रगट हो, वहाँ निमित्त में द्रव्यलिङ्गरूप से शरीर की दिगम्बरदशा ही होती है—ऐसा उसका क्रम है। कोई मुनिराज ध्यान में बैठे हों और कोई अज्ञानी आकर उनके शरीर पर वस्त्र डाल जाये तो वह कहीं परिग्रह नहीं है, वह तो उपसर्ग है। सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ कुदेवादि को माने—ऐसा क्रमबद्धपर्याय में नहीं होता और मुनिदशा हो, वहाँ वस्त्र-पात्र रखे—ऐसा क्रमबद्धपर्याय में नहीं होता—इस प्रकार सर्व भूमिकाओं को समझ लेना चाहिए।

(११४) योग्यता और निमित्त (सर्व निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं)

'इष्टोपदेश' में (३५ वीं गाथा में) कहा है कि कोई भी कार्य होने में वास्तविकरूप से उसकी अपनी योग्यता ही साक्षात् साधक है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है, वहाँ दूसरी वस्तु तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र है। जिस प्रकार अपनी योग्यता से स्वयं गति करनेवाले पदार्थों को धर्मास्तिकाय तो सर्वत्र बिछा हुआ निमित्त है, वह कहीं किसी को गति नहीं कराता; उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में अपनी क्रमबद्धपर्याय की योग्यता से ही कार्य होता है, उसमें जगत की दूसरी वस्तुएँ तो मात्र धर्मास्तिकायवत् हैं। देखो, यह इष्ट-उपदेश! ऐसी स्वाधीनता का उपदेश ही इष्ट है, हितकारी है, यथार्थ है। इससे विपरीत मान्यता का उपदेश हो तो वह इष्ट-उपदेश नहीं है किन्तु अनिष्ट है। जैनदर्शन का उपदेश कहो ....आत्मा के हित का उपदेश कहो ... इष्ट उपदेश कहो ....यथार्थ उपदेश कहो ....सत्य का उपदेश कहो ...अनेकान्त का उपदेश कहो या सर्वज्ञ-भगवान का उपदेश कहो.... वह यह है कि-जीव और अजीव प्रत्येक वस्तु में अपनी-अपनी क्रमबद्धयोग्यता से ही कार्य होता है, पर से उसमें कुछ भी नहीं होता। वस्तु अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप अपनी योग्यता से ही स्वयं परिणमित हो जाती है, दूसरी वस्तु तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र है। यहाँ धर्मास्तिकाय का उदाहरण देकर पूज्यपादस्वामी ने निमित्त का स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है।

धर्मास्तिकाय तो समस्त लोक में सदैव ज्यों का त्यों स्थित है; जो जीव या पुद्गल स्वयं अपनी योग्यता से ही गति करते हैं, उन्हें वह निमित्तमात्र है। गतिरूप से 'स्वयं परिणमित को' ही निमित्त है; स्वयं परिणमित न होनेवाले को वह परिणमित नहीं कराता; और न निमित्त भी होता है।

'योग्यता के समय निमित्त न हो तो?' ऐसी शङ्का करनेवाला वास्तव में योग्यता को या निमित्त के स्वरूप को नहीं जानता। जिस प्रकार कोई पूछता है कि—'जीव-पुद्गल में गति करने की योग्यता तो है, किन्तु धर्मास्तिकाय न हो तो?'—तो ऐसा पूछनेवाला वास्तव में जीव-पुद्गल की योग्यता को या धर्मास्तिकाय को भी नहीं जानता है; क्योंकि गति के समय सदैव धर्मास्तिकाय निमित्तरूप से होता ही है, जगत में धर्मास्तिकाय न हो—ऐसा कभी होता ही नहीं।

'योग्यता के समय निमित्त न हो तो?'

'गति की योग्यता के समय धर्मास्तिकाय न हो तो?'

'पानी गर्म होने की योग्यता के समय अग्नि न हो तो?'

'मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता के समय कुम्हार न हो तो ?'

'जीव में मोक्ष होने की योग्यता हो, किन्तु वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो तो ?'

—यह सब प्रश्न एक ही प्रकार के—निमित्ताधीन दृष्टिवाले के—हैं। इसी प्रकार गुरु-शिष्य, क्षायकसम्यक्त्व और केवली-ध्रुव-केवली-आदि सभी में समझ लेना चाहिए। जगत में जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने नियमित स्वकाल की योग्यता से ही परिणमित होता है, उस समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप हो, वह 'गतेः धर्मास्तिकायवत्' है। कोई भी कार्य होने में वस्तु की 'योग्यता ही' निश्चयकारण है; दूसरा कारण कहना, वह 'गति में धर्मास्तिकायवत्' उपचारमात्र है, अर्थात् वास्तव में वह कारण नहीं है। अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से वस्तु स्वयं ही उत्पन्न होती है—यह नियम समझे तो निमित्ताधीनदृष्टि की सब गुत्थियाँ सुलझ जायें। वस्तु एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है। एक समय में अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है, उसी समय पूर्व पर्याय से व्यय को प्राप्त होती है और उसी समय अखण्डतारूप से ध्रुव स्थिर रहती है—इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु स्वयं वर्तती है; एक वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में बीच में कोई दूसरा द्रव्य घुस जाये-ऐसा नहीं होता।

जिस प्रकार वास्तव में मोक्षमार्ग तो एक ही है, किन्तु उसका निरूपण दो प्रकार से है; निश्चयरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहना, वह तो वास्तव में मोक्षमार्ग है और शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहना, वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु उपचारमात्र है।

उसी प्रकार कार्य का कारण वास्तव में एक ही है। वस्तु की योग्यता ही सच्चा कारण है और निमित्त को दूसरा कारण कहना, वह सच्चा कारण नहीं है, किन्तु उपचारमात्र है।

इसी प्रकार कार्य का कर्ता भी एक ही है, दो कर्ता नहीं हैं। दूसरे को कर्ता कहना, वह उपचारमात्र है।

(११५) प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र परिणमन जाने बिना भेदज्ञान नहीं होता

यहाँ कहते हैं कि द्रव्य उत्पन्न होता हुआ अपने परिणाम से अनन्य है; इसलिए उस परिणमन के कर्ता दो नहीं होते। एक द्रव्य के परिणाम में दूसरा द्रव्य तन्मय नहीं होता, इसलिए दो कर्ता नहीं होते; उसी प्रकार एक द्रव्य दो परिणाम में (अपने और पर के-दोनों के परिणाम में) तन्मय नहीं होता, इसलिए एक द्रव्य दो परिणाम नहीं करता। नाटक-समयसार में पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि—

करता परिनामी दरव, करमरूप परिनाम।
किरिया परजय की फिरनी वस्तु एक त्रय नाम॥७॥

अर्थात्—अवस्थारूप से जो द्रव्य परिणमित होता है, वह कर्ता है; जो परिणाम होते हैं, वह उसका कर्म है; और अवस्था से अवस्थान्तर होना, वह क्रिया है। यह कर्ता, कर्म और क्रिया वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं, अर्थात् वे भिन्न-भिन्न वस्तु में नहीं रहते। पुनश्च—

एक परिनाम के न करता दरव दोइ,
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करैं,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है॥
जीव पुद्गल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपनें अपने रूप कोउ न टरतु है।
जड़ परनामनिकौ करता है पुद्गल,
चिदानन्द चेतन सुभाउ आचरतु है॥१०॥

अर्थात्—एक परिणाम के कर्ता दो द्रव्य नहीं होते; एक द्रव्य दो परिणामों को नहीं करता। एक क्रिया को दो द्रव्य कभी नहीं करते, तथा एक द्रव्य दो क्रियायें नहीं करता।

जीव और पुद्गल यद्यपि एक क्षेत्र में रहते हैं, तथापि अपने-अपने स्वभाव को कोई नहीं छोड़ते। पुद्गल तो उसके जड़-परिणाम का कर्ता है, और चिदानन्द आत्मा अपने चेतनस्वभाव का आचरण करता है।

—इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र परिणमन को जब तक जीव न जाने, तब तक पर से भेदज्ञान नहीं होता और स्वभाव में एकता प्रगट नहीं होती; इसलिए सम्यग्दर्शनादि कुछ नहीं होते।

(११६) जो पर्याय में तन्मय हो, वही उसका कर्ता

क्रमबद्धपरिणाम से परिणमित द्रव्य अपनी पर्याय के साथ एकमेक है—यह सिद्धान्त समझाने के लिये आचार्यदेव यहाँ सुवर्ण का दृष्टान्त देते हैं। जिस प्रकार सुवर्ण में कुण्डलादि जो अवस्था हुई, उसके साथ वह सुवर्ण एकमेक है, पृथक् नहीं है; सुवर्ण की अवस्था से स्वर्णकार पृथक् है, किन्तु सुवर्ण पृथक् नहीं है; उसी प्रकार जगत के जीव या अजीव सर्व द्रव्य अपनी-

अपनी जो अवस्था होती है, उसके साथ एकमेक हैं; दूसरे के साथ एकमेक नहीं हैं; इसलिए वे दूसरे के अकर्ता हैं। जो पर्याय हुई, उस पर्याय में जो तन्मय हो, वही उसका कर्ता होता है, किन्तु उससे जो पृथक हो, वह उसका कर्ता नहीं होता—यह नियम है। जैसे कि—

घड़ा हुआ, वहाँ उस घड़ारूप अवस्था के साथ मिट्टी के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु कुम्हार उसके साथ एकमेक नहीं है; इसलिए कुम्हार उसका अकर्ता है।

वस्त्र हुआ, वहाँ उस वस्त्ररूप पर्याय के साथ ताने-बाने के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु बुनकर उसके साथ एकमेक नहीं है; इसलिए वह उसका अकर्ता है।

अलमारी हुई, वहाँ उस अलमारी की अवस्था के साथ लकड़ी के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु बढ़ई उसके साथ एकमेक नहीं है; इसलिए वह उसका अकर्ता है।

रोटी हुई, वहाँ रोटी के साथ आटे के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु स्त्री (रसोई बनानेवाली) उसके साथ एकमेक नहीं है; इसलिए स्त्री, रोटी की अकर्ता है।

सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ उस पर्याय के साथ आत्मा स्वयं एकमेक है; इसलिए आत्मा उसका कर्ता है, किन्तु अजीव उसमें एकमेक नहीं है; इसलिए वह अकर्ता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, सुख, आनन्द, सिद्धदशा आदि सर्व अवस्थाओं में समझ लेना चाहिए। उस-उस अवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही उसमें तद्रूप होकर उसका कर्ता है; वह अजीव नहीं है; इसलिए अजीव के साथ उसे कार्य-कारणपना नहीं है।

(११७) ज्ञाता, राग का अकर्ता

यहाँ तो आचार्यदेव यह सिद्धान्त समझाते हैं कि—ज्ञायक-स्वभावसन्मुख होकर जो जीव ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न हुआ, वह जीव, राग का भी अकर्ता है; अपने ज्ञातापरिणाम में तन्मय होने से उसका कर्ता है और राग का अकर्ता है, क्योंकि राग में वह तन्मय नहीं है। ज्ञायकभाव में जो तन्मय हुआ, वह राग में तन्मय नहीं होता; इसलिए वह राग का अकर्ता ही है।

—ऐसे ज्ञातास्वभाव को जानना, वह निश्चय है। स्वसन्मुख होकर ऐसा निश्चय का ज्ञान करे तो, किस पर्याय में कैसा राग होता है और वहाँ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध किस प्रकार का होता है—उस सब व्यवहार का भी यथार्थ विवेक हो जाता है।

(११८) निश्चय-व्यवहार का आवश्यक स्पष्टीकरण

कई लोग कहते हैं कि यह तो निश्चय की बात है, किन्तु व्यवहार से तो जीव, जड़कर्म का

कर्ता है! तो आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे भाई! जिसकी दृष्टि ज्ञायक पर नहीं है और कर्म पर है—ऐसे अज्ञानी को ही कर्म के कर्तापने का व्यवहार लागू होता है; ज्ञायक-दृष्टिवाले ज्ञानी को वैसा व्यवहार लागू नहीं होता। ज्ञायकस्वभावी जीव, मिथ्यात्वादि कर्म का अकर्ता होने पर भी, उसे कर्म का कर्ता कहना, वह व्यवहार है और वह व्यवहार, अज्ञानी को ही लागू होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाला ज्ञानी तो अकर्ता ही है।

सुवर्ण की जो अवस्था हुई, उसका स्वर्णकार अकर्ता है, तथापि उसे निमित्तकर्ता कहना, वह व्यवहार है। जो कर्ता है, उसे कर्ता जानना, वह निश्चय और अकर्ता को कर्ता कहना, वह व्यवहार है। जीव अपनी क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है और अजीव अपनी क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। जीव, अजीव की अवस्था का अकर्ता है और अजीव जीव की अवस्था अकर्ता।—इस प्रकार जैसे जीव-अजीव को परस्पर कर्तापना नहीं है, उसी प्रकार उनको परस्पर कर्मपना, करणपना, सम्प्रदानपना, अपादानपना या अधिकरणपना भी नहीं है। मात्र निमित्तपने से उन्हें एक-दूसरे का कर्ता, कर्म, करण आदि कहना, वह व्यवहार है। निमित्त से कर्ता यानी वास्तव में अकर्ता; और अकर्ता को कर्ता कहना, वह व्यवहार। निश्चय से अकर्ता हुआ, तब व्यवहार का ज्ञान सच्चा हुआ। ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर जो ज्ञाता हुआ, वह राग को रागरूप से जानता है, किन्तु वह राग में ज्ञान की एकता नहीं करता; इसलिए वह ज्ञाता तो राग का भी अकर्ता है।

(११९) क्रमबद्धपर्याय का मूल

देखो, इस क्रमबद्धपर्याय में वास्तव में तो ज्ञानस्वभावी आत्मा की बात है, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन? 'ज्ञायक' को जाने बिना क्रमबद्धपर्याय को जानेगा कौन? ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर जो ज्ञायकभावरूप परिणमित हुआ, वह ज्ञायक हुआ, अर्थात् अकर्ता हुआ; और वही क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ। 'ज्ञायक' कहो या 'अकर्ता' कहो; ज्ञायक, पर का अकर्ता है। ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर ऐसा भेदज्ञान करे, फिर साधकदशा में भूमिकानुसार जो व्यवहार रहा, उसे ज्ञानी जानता है; इसलिए 'व्यवहारनय उस काल जाना हुआ प्रयोजनवान है'—यह बात उसे लागू होती है, मिथ्यादृष्टि को नहीं। मिथ्यादृष्टि तो ज्ञायक को भी नहीं जानता, और व्यवहार का भी उसे सच्चा ज्ञान नहीं होता।

द्रव्य अपनी जिस क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, वह पर्याय ही उसका कार्य है; दूसरा

उसका कार्य नहीं है। इस प्रकार एक कर्ता के दो कार्य नहीं होते, इसलिए जीव-अजीव को परस्पर कार्यकारणपना नहीं है। निगोद से लेकर सिद्ध तक के समस्त जीव और एक परमाणु से लेकर अचेतन महास्कन्ध, तथा दूसरे चार अजीवद्रव्य;—उन सबको अपने-अपने उस काल के क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाले परिणामों के साथ तद्रूपपना है। पर्यायें अनादि-अनन्त क्रमबद्ध होने पर भी, उनमें वर्तमानरूप से तो एक ही पर्याय वर्तती है और उस-उस समय वर्तती हुई पर्याय में द्रव्य तद्रूपता से वर्त रहा है। वस्तु को तो जब देखो, तब वर्तमान है, जब देखो तब वर्तमान उस समय की पर्याय सत् है, उस वर्तमान के पहले हो जानेवाली पर्यायें भूतकाल में हैं और बाद में होनेवाली पर्यायें भविष्य में हैं; वर्तमान पर्याय एक समय भी आगे-पीछे होकर भूत या भविष्य की पर्यायरूप नहीं हो जाती; उसी प्रकार भविष्य की पर्याय, भूतकाल की पर्यायरूप नहीं होती या भूतकाल की पर्याय, भविष्य की पर्यायरूप नहीं हो जाती। अनादि-अनन्त प्रवाहक्रम में प्रत्येक पर्याय अपने-अपने स्थान पर ही प्रकाशित रहती है; इस प्रकार पर्यायों की क्रमबद्धता है।—यह बात प्रवचनसार की ९९ वीं गाथा में प्रदेशों के विस्तारक्रम का दृष्टान्त देकर अलौकिक रीति से समझायी है।

(१२०) क्रमबद्धपर्याय में क्या-क्या आया ?

प्रश्न : 'क्रमबद्ध' कहने से भूतकाल की पर्याय भविष्यरूप, या भविष्य की पर्याय भूतकालरूप नहीं होती-यह बात तो ठीक है; किन्तु इस समय यह पर्याय ऐसी ही होगी—यह बात इस क्रमबद्धपर्याय में कहाँ आयी ?

उत्तर : क्रमबद्धपर्याय में जिस समय के जो परिणाम हैं, वे सत् हैं; और उस परिणाम का स्वरूप कैसा होता है, वह भी उसमें साथ ही आ जाता है। 'मैं ज्ञायक हूँ' तो मेरे ज्ञेयरूप से समस्त पदार्थों के तीनों काल के परिणाम क्रमबद्ध सत् हैं—ऐसा निर्णय उसमें हो जाता है। यदि ऐसा न माने तो उसने अपने ज्ञायकभाव के पूर्ण सामर्थ्य को ही नहीं माना है। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों में क्रमबद्धपर्याय होती है—यह बात जिसे नहीं जमती, उसे निश्चय-व्यवहार के या निमित्त-उपादान आदि के झगड़े खड़े होते हैं; किन्तु यह निर्णय करे तो सब झगड़े शान्त हो जायें और भूल दूर होकर मुक्ति हुए बिना न रहे।

(१२१) जहाँ रुचि, वहाँ जोर

'निमित्त से और व्यवहार से तो आत्मा, कर्म का कर्ता है न!'—ऐसा अज्ञानी जोर देता है; किन्तु भाई! तेरा जोर उल्टा है; तू कर्म की ओर जोर देता है, किन्तु 'आत्मा अकर्ता है-ज्ञान ही

है'—इस प्रकार ज्ञायक पर जोर क्यों नहीं देता ? जिसे ज्ञायक की रुचि नहीं है और राग की रुचि है, वही कर्म के कर्तापने पर जोर देता है।

क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाला काल के प्रवाह की ओर नहीं देखता, किन्तु ज्ञायकस्वभाव की ओर देखता है ? क्योंकि वस्तु की क्रमबद्धपर्याय कहीं काल के कारण नहीं होती। कालद्रव्य तो परिणमन में सर्व द्रव्यों को एकसाथ निमित्त है, तथापि कोई परमाणु, स्कन्ध में जुडे, तो उसी समय दूसरा परमाणु उसमें से पृथक् होता है; एक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और दूसरा जीव उसी समय केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है—इस प्रकार जीव-अजीव द्रव्यों में अपनी-अपनी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न अवस्थारूप से क्रमबद्ध परिणाम होते हैं। इसलिए, अपने ज्ञानपरिणाम का प्रवाह जहाँ से बहता है—ऐसे ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है।

(१२२) तद्रूप और क्रदूप; [ज्ञानी को दिवाली, अज्ञानी को होली]

क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होनेवाला द्रव्य अपने परिणाम के साथ 'तद्रूप' है;—ऐसा न मानकर दूसरा कर्ता माने तो उसने द्रव्य के साथ पर्याय को तद्रूप नहीं माना, किन्तु पर के साथ तद्रूप माना; इसलिए उसकी मान्यता कद्रूप हुई—मिथ्या हुई। पर्याय को अन्तरोन्मुख करके ज्ञायकभाव के साथ तद्रूप करना चाहिए, उसके बदले पर के साथ तद्रूप मानकर कद्रूप की, उसने दिवाली के बदले होली की है। जिस प्रकार होली के बदले दिवाली के त्यौहार में मुँह पर कालिख पोतकर मुँह काला कर ले तो उसे मूर्ख कहा जायेगा; उसी प्रकार 'दि...वाली' यानी अपनी निर्मल स्वपर्याय; उसमें स्वयं तद्रूप होना चाहिए उसके बदले अज्ञानी पर के साथ अपनी तद्रूपता मानकर अपनी पर्याय को मलिन करता है; इसलिए वह दिवाली के बदले अपने गुणों की होली जलाता है। भाई, 'दि' अर्थात् स्वकाल की पर्याय, उसे 'वाल' (झुका) अपने आत्मा में,—तो तेरे घर पर दिवाली के दीपक जगमगा उठें, अर्थात् सम्यग्ज्ञान के दीप जल उठें और मिथ्यात्व की होली दूर हो जाये। स्वकाल की पर्याय को अन्तरोन्मुख न करके पर के साथ एकत्व मानकर, उस विपरीत मान्यता में अज्ञानी अपने गुणों को होम (जला) देता है; इसलिए उसमें गुणों की होली जलती है—गुणों की निर्मलदशा प्रगट होने के बदले मलिनदशा प्रगट होती है; उसमें आत्मा की शोभा नहीं है।

स्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्ध आये हुए निर्मल स्वकाल के साथ तद्रूपता धारण करे, उसमें

आत्मा की शोभा और प्रभुता है। अपनी-अपनी पर्याय के साथ तद्रूपता धारण करे, उसी में प्रत्येक द्रव्य की प्रभुता है; यदि उसकी पर्याय में दूसरा कोई तद्रूप होकर उसे करे तो उसमें द्रव्य की प्रभुता नहीं रहती; अथवा आत्मा स्वयं पर के साथ तद्रूपता मानकर उसका कर्ता होने जाये तो उसमें भी अपनी या पर की प्रभुता नहीं रहती। जो पर का कर्ता होने जाये, वह अपनी प्रभुता को भूलता है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञातापना न मानकर उसमें उल्टा-सीधा करना माने तो वह जीव अपने ज्ञाताभाव के साथ तद्रूप न रहकर मिथ्यादृष्टि-कद्रूप हो जाता है।

(१२३) यह है जैनशासन का सार!

अहो, प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होता हुआ उस-उस परिणाम में तद्रूप होकर उसे करता है, किन्तु दूसरे परिणाम को नहीं करता-इस एक सिद्धान्त में छहों द्रव्यों के तीनों काल के परिणमन के हल की चाबी आ जाती है, सब समाधान हो जाते हैं। मैं ज्ञायक और पदार्थों में स्वतन्त्र क्रमबद्धपरिणमन—बस, इसमें सब सार आ गया। अपने ज्ञायकस्वभाव का और पदार्थों के क्रमबद्धपरिणमन की स्वतन्त्रता का निर्णय करके, स्वयं अपने ज्ञायकस्वभाव में अभेद होकर परिणमित हुआ, वहाँ स्वयं ज्ञायक ही रहा और पर का अकर्ता हुआ, उसका नाम रागादि से पृथक् होकर 'सर्वविशुद्ध' हुआ।—इसका नाम जैनशासन और इसका नाम धर्म।

'योग्यता को ही' कार्य की साक्षात् साधक कहकर इष्टोपदेश में स्वतन्त्रता का अलौकिक उपदेश किया है। 'इष्टोपदेश' को 'जैन का उपनिषद्' भी कहते हैं। वास्तव में वस्तु की स्वतन्त्रता बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये, वही इष्ट-उपदेश है; और वही जैनधर्म का मर्म है, इसलिए जैन का उपनिषद् है।

(१२४) '—विरला बूझे कोई!'

यह बात समझे बिना उपादान-निमित्त का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। उपादान और निमित्त दोनों वस्तुएँ हैं अवश्य, उनका ज्ञान कराने के लिये शास्त्रों में उनका वर्णन किया है; वहाँ अज्ञानी अपनी विपरीत दृष्टि से उपादान-निमित्त के नाम से उल्टा स्व-पर की एकत्वबुद्धि का पोषण करता है; 'देखो, शास्त्र में निमित्त तो कहा है न? दो कारण तो कहे हैं न?'—ऐसा कहकर उल्टा स्व-पर की एकत्वबुद्धि को घोंटता है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि :—

उपादान निजगुण जहाँ तहाँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परमाण विधि विरला बूझे कोय॥४॥

अर्थात्—जहाँ उपादान की अपनी निजशक्ति से कार्य होता है, वहाँ दूसरी वस्तु निमित्त होती है; इस प्रकार उपादान और निमित्त दोनों वस्तुएँ तो हैं, किन्तु वहाँ उपादान की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है और निमित्त तो उसमें अभावरूप—अकिंचित्कर है—ऐसी भेदज्ञान की यथार्थ विधि कोई विरले ही जानते हैं, अर्थात् सम्यक्त्वी जानते हैं।

(१२५) यहाँ सिद्ध करना है-आत्मा का अकर्तृत्व

अभी तक आचार्यदेव ने यह बात सिद्ध की है कि—'प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार सुवर्ण का कंकणादि परिणामों के साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार सर्व द्रव्यों को अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।'

अब इस सिद्धान्त पर से जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये आचार्यदेव कहते हैं कि—'इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता....' कर्ता होकर अपने ज्ञायकपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव, कर्म के बन्धन का भी कारण हो-ऐसा नहीं होता। इस प्रकार उसका अकर्तृत्व है।

(१२६) 'एक' का कर्ता 'दो' का कर्ता नहीं है (ज्ञायक के अकर्तृत्व की सिद्धि)

प्रश्न : यदि जीव अपने परिणाम से उत्पन्न होता है और उसमें तद्रूप होकर उसे करता है, तो एक के साथ दूसरे का भी करे, उसमें क्या हर्ज ? 'एक का ग्वाला, वह दो का ग्वाला'—यानी जो ग्वाल एक गाय चराने ले जाता है, वह साथ में दो ले जाये तो उसमें उसे क्या परिश्रम ? अथवा 'एक की रसोई बनाना, वहाँ साथ में दो की बना लेना।' उसी प्रकार कर्ता होकर एक अपना करे, वह साथ में दूसरे का भी कर दे तो क्या हर्ज ? जीव स्वयं ज्ञायकरूप से उत्पन्न भी हो और कर्म को भी बाँध ले—इसमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर : प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय के साथ तद्रूप है; इसलिए उसे तो करता है, किन्तु पर के साथ तद्रूप नहीं है; इसलिए उसका वह कर्ता नहीं है। पर के साथ तद्रूप हो, तभी पर को करे, किन्तु ऐसा तो कभी हो नहीं सकता। इसलिए 'गाय के ग्वाले' जैसी लौकिक कहावत यहाँ लागू नहीं होती। स्वभाव-सन्मुख होकर जो जीव अपने ज्ञायकभावरूप से परिणमित हुआ, वह अपने ज्ञायकभाव के साथ तद्रूप है; इसलिए उसका तो वह कर्ता है, किन्तु रागादिभावों के साथ वह तद्रूप नहीं है; इसलिए वास्तव में राग का कर्ता नहीं है; इसलिए कर्म के कर्तृत्व का व्यवहार भी उसे लागू

नहीं होता। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि—'जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसे अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता।'

कौन-सा जीव ?.....कहते हैं कि ज्ञानी;

कैसे परिणाम ?.....कहते हैं कि ज्ञाता-दृष्टा के निर्मल परिणाम। ज्ञानी अपने ज्ञाता-दृष्टा के निर्मल परिणामरूप से उत्पन्न होता है, किन्तु अजीव कर्मों के बन्ध का कारण नहीं होता; क्योंकि उसे अपने ज्ञायकभाव के साथ ही एकता है, रागादि के साथ और कर्म के साथ एकता नहीं है, इसलिए वह रागादि का और कर्म का अकर्ता ही है। जीव अपने ज्ञायकपरिणाम का कर्ता हो और साथ ही साथ अजीव में नये कर्म बाँधने में भी निमित्त हो-ऐसा नहीं होता। नये कर्मों में यहाँ मुख्यरूप से मिथ्यात्वादि ४१ प्रकृतियों की बात लेना है—उनका बन्धन ज्ञानी को होता ही नहीं। ज्ञानी को अपने निर्मल ज्ञानपरिणाम के साथ कार्यकारणपना है, किन्तु अजीव के साथ या रागादि के साथ उसे कार्यकारणपना नहीं है, इसलिए वह अकर्ता है।

(१२७) व्यवहार कौन सा ? और किसको ?

प्रश्न : यह तो निश्चय की बात हुई, अब व्यवहार समझाइये ?

उत्तर : जो यह निश्चयरूप समझ ले, उसे व्यवहार की खबर पड़ती है। ज्ञाता जागृत हुआ और स्व-पर प्रकाशक शक्ति विकसित हुई, तब निमित्त और व्यवहार कैसे होते हैं, उन्हें वह जानता है। स्वयं राग से अधिक होकर ज्ञायकरूप से परिणमित होता हुआ, चारित्र में अस्थिरता का जो राग है, उसे भी जानता है—वह ज्ञानी का व्यवहार है। किन्तु जहाँ निश्चय का भान नहीं है, ज्ञाता जागृत नहीं है, वहाँ व्यवहार को जानेगा कौन ? वह अज्ञानी तो राग को भला जानते हुए उसी में एकता मान लेता है, इसलिए उसे तो राग ही निश्चय हो गया, राग से पृथक् कोई राग का ज्ञाता नहीं रहा। यहाँ तो जागृत होकर ज्ञान की अधिकतारूप से परिणमित होता हुआ शेष अल्प राग को भी जाने, वह व्यवहार है। परमार्थज्ञेय तो अपना ज्ञायक आत्मा ही है और राग, वह ज्ञानी का व्यवहारज्ञेय है, किन्तु जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है और 'कर्म का व्यवहारकर्ता तो हूँ न!'—ऐसी दृष्टि है, उसके लिये आचार्यदेव अगली गाथा कहेंगे कि कर्म के साथ कर्तापना का व्यवहार अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि को ही लागू होता है। ●●

छठवाँ प्रवचन

[आश्विन शुक्ला २, वीर सं० २४८०]

भाई! पञ्च परमेष्ठी भगवान ही हमारे 'पञ्च' हैं। ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय का यह जो वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है, उसी प्रकार अनादि से पञ्च परमेष्ठी भगवन्त कहते आये हैं, और महाविदेह में बिराजमान सीमन्धरादि भगवन्त इस समय भी यही उपदेश दे रहे हैं। इसके सिवा अज्ञानी विपरीत माने, तो भले माने किन्तु यहाँ तो पञ्च परमेष्ठी भगवन्तों को पञ्चरूप से रखकर यह बात कही जा रही है।

(१२८) ज्ञायक वस्तुस्वरूप, और अकर्तृत्व

इस 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' को 'शुद्धात्मद्रव्य अधिकार' भी कहा जाता है। ज्ञायकस्वभावी शुद्ध आत्मद्रव्य का स्वरूप क्या है, वह आचार्यदेव बतलाते हैं। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक है, ज्ञाता है; वह ज्ञायकस्वभाव न तो पर का कर्ता है, और न राग का। कर्ता होकर पर की अवस्था उत्पन्न करे, ऐसा तो ज्ञायक का स्वरूप नहीं है, और न राग में कर्ताबुद्धि भी उसका स्वभाव है; राग भी उसके ज्ञेयरूप ही है। राग में तन्मय होकर नहीं, किन्तु राग से अधिक रहकर—भिन्न रहकर ज्ञायक उसे जानता है। ऐसा ज्ञायक-वस्तुस्वरूप समझे तो ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के सारे गर्व दूर हो जायें।

यहाँ जीव को समझाना है कि तू ज्ञायक है, पर का अकर्ता है। 'ज्ञायक' ज्ञाता-दृष्टा परिणाम के अतिरिक्त दूसरा क्या करे? ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव को जानकर जो स्वसन्मुख निर्मल परिणामरूप से परिणमित हुआ, वह ज्ञानी ऐसा जानता है कि प्रतिसमय मेरे ज्ञान के जो निर्मल क्रमबद्धपरिणाम होते हैं, उन्हीं में मैं तन्मय हूँ, राग में या पर में मैं तन्मय नहीं हूँ; इसलिए उनका मैं अकर्ता हूँ।

अजीव भी अपने क्रमबद्ध होनेवाले जड़ परिणामों के साथ तन्मय है और दूसरों के साथ तन्मय नहीं है; इसलिए वह अजीव भी पर का अकर्ता है, किन्तु यहाँ उसकी मुख्यता नहीं है, यहाँ तो जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करना है; जीव को यह बात समझाना है।

(१२९) दृष्टि बदलकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे, वही इस उपदेश का रहस्य समझा है।

यह आत्मा के ज्ञायकभाव की बात है; इसे समझ ले तो अपूर्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान

हो, और उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का वेदन हो। दृष्टि को बदले तो यह बात जीव की समझ में आ सकती है। यह वस्तु मात्र बात करने के लिये नहीं है, किन्तु समझकर दृष्टि को अन्तरोन्मुख करने के लिये यह उपदेश है। क्रमबद्धपर्याय तो अजीव में भी होती है, किन्तु उसे कहीं ऐसा नहीं समझाना है कि तू अकर्ता है, इसलिए दृष्टि को बदल! यहाँ तो जीव को समझाना है। अज्ञानी जीव अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर "मैं पर का कर्ता"—ऐसा मान रहा है; उसे यहाँ समझाते हैं कि भाई! तू तो ज्ञायक है; जीव और अजीव सर्व द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्याय में परिणमित हो रहे हैं, तू उनका ज्ञायक है, किन्तु किसी पर का कर्ता नहीं है। "मैं ज्ञायकस्वभाव, पर का अकर्ता, अपनी ज्ञानपर्याय में क्रमबद्ध परिणमित होता हूँ"—ऐसा समझकर, स्वद्रव्य की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। दृष्टि की दिशा स्वोन्मुख करे, तभी क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है, और उसके अपने में निर्मल पर्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। "मेरी सब पर्यायें क्रमबद्ध-क्रमशः होती हैं"—ऐसा निर्णय करते हुए, उन पर्यायोंरूप से परिणमित होनेवाले ऐसे ज्ञायकद्रव्य की ओर दृष्टि जाती है। मेरा क्रमबद्धपरिणमन मुझमें और पर का क्रमबद्धपरिणमन पर में; पर के क्रम में मैं नहीं हूँ और मेरे क्रम में पर नहीं है—ऐसा भेदज्ञान करने से 'मैं पर का कुछ करूँ'—ऐसी दृष्टि छूट जाती है, और ज्ञायकस्वभावोन्मुखदृष्टि होती है। उस स्वसन्मुख दृष्टि का परिणमन होने से ज्ञान, आनन्द, वीर्यादि समस्त गुणों में भी स्वाश्रय से अंशतः निर्मल परिणमन हुआ।

(१३०) जैनधर्म की मूल बात

पण्डित या त्यागी नाम धारण करनेवाले कितनों को तो अभी 'सर्वज्ञ' की तथा क्रमबद्धपर्याय की भी श्रद्धा नहीं है। किन्तु यह तो जैनधर्म की मूल बात है, इसका निर्णय किये बिना सच्चा जैनत्व होता ही नहीं। यदि केवलज्ञान तीनकाल की समस्त पर्यायों को न जाने तो वह केवलज्ञान काहे का? और यदि पदार्थों की तीनों काल की समस्त पर्यायें व्यवस्थित-क्रमबद्ध ही न हों तो केवलीभगवान ने देखा क्या?

(१३१) 'सर्वभावान्तरच्छिदे'

समयसार का मांगलिक करते हुए पहले ही कलश में आचार्यदेव ने कहा है कि—

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥१॥

'समयसार' अर्थात् शुद्ध आत्मा को नमस्कार करते हुये आचार्यदेव कहते हैं कि मैं साधक

हूँ, इसलिए मेरा परिणमन अन्तर में नमता है, मैं शुद्धात्मा में परिणमित होता हूँ।—कैसा है शुद्धात्मा ? प्रथम तो स्वानुभूति से प्रकाशमान है, यानी स्वसन्मुख ज्ञानक्रिया द्वारा ही वह प्रकाशमान है; राग द्वारा या व्यवहार के अवलम्बन द्वारा वह प्रकाशित नहीं होता; और कहा है कि ज्ञानस्वभावरूप वस्तु है, तथा स्वयं से अन्य समस्त भावों का भी ज्ञाता है। इस प्रकार जीव का ज्ञानस्वभाव है और वह तीनों काल की क्रमबद्धपर्यायों को जानता है–यह बात भी उसमें आ गयी।

(१३२) ज्ञान में जो पर को जानने की शक्ति है, वह अभूतार्थ नहीं है

प्रश्न : जीव का ज्ञानस्वभाव है और केवलज्ञान होने पर वह सर्व पदार्थों की तीनों काल की क्रमबद्धपर्यायों को जानता है—ऐसा आप कहते हैं, किन्तु नियमसार की १५९ वीं तथा १६६ वीं गाथा में कहा है कि केवलीभगवान निश्चय से स्व को जानते-देखते हैं और लोकालोक को तो व्यवहार से जानते-देखते हैं; तथा समयसार की ११ वीं गाथा में व्यवहार को अभूतार्थ कहा है; इसलिए ''सर्वज्ञभगवान' ने तीनकाल की समस्त पर्यायों को जाना है और तद्नुसार ही पदार्थों में क्रमबद्धपरिणमन होता है''—यह बात ठीक नहीं है !! (-ऐसा प्रश्न है)।

उत्तर : भाई ! तुझे सर्वज्ञ की भी श्रद्धा नहीं रही ? शास्त्रों की ओट में तू अपनी विपरीत दृष्टि का पोषण करना चाहता है; किन्तु सर्वज्ञ की श्रद्धा के बिना तुझे शास्त्रों का एक अक्षर भी यथार्थरूप से समझमें नहीं आ सकता। ज्ञान, पर को व्यवहार से जानता है—ऐसा कहा, वहाँ ज्ञान में जानने की शक्ति कहीं व्यवहार से नहीं है; जानने की शक्ति तो निश्चय से है, किन्तु पर के साथ एकमेक होकर अथवा तो परसन्मुख होकर केवलज्ञान उसे नहीं जानता; इसलिए व्यवहार कहा है। स्व को जानते हुए अपने में एकमेक होकर जानता है; इसलिए स्व-प्रकाशकपने को निश्चय कहा, और पर में एकमेक नहीं होता; इसलिए परप्रकाशकपने को व्यवहार कहा है। किन्तु ज्ञान में स्व-परप्रकाशक शक्ति है, वह तो निश्चय से ही है, वह कहीं व्यवहार नहीं है। 'सर्वभावांतरच्छिदे'—ऐसा कहा उसमें क्या शेष रह गया ?—वह कहीं व्यवहार से नहीं कहा है। और १६० वीं गाथा में ''सो **सव्वणाणदरिसी.....** अर्थात् आत्मा स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य-विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला है'—ऐसा कहा, वह कहीं व्यवहार से नहीं कहा है, किन्तु निश्चय से ऐसा ही है। ज्ञान में स्व-पर को जानने की शक्ति है, वह कहीं व्यवहार या अभूतार्थ नहीं है। अरे ! स्वच्छन्द से कही हुई अपनी बात को सिद्ध करने के लिये, ज्ञानस्वभाव के सामर्थ्य को भी अभूतार्थ कहकर उड़ाये और उसी पर कुन्दकुन्द भगवान जैसे आचार्यों के नाम से

बात करे—यह तो मूढ़ जीवों का महान गजब है! और जो उनकी ऐसी बात को स्वीकार करते हैं, उन्हें भी वास्तव में सर्वज्ञदेव की श्रद्धा नहीं है।

(१३३) सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय करे, उसे पुरुषार्थ की शंका नहीं रहती

अब, अनेक जीव यों ही (निर्णय बिना) सर्वज्ञता को मानते हैं; उन्हें ऐसा प्रश्न उठता है कि यदि सर्वज्ञभगवान के देखे अनुसार ही क्रमबद्ध होता है और उस क्रम में फेरफार नहीं हो सकता,—तो फिर जीव को पुरुषार्थ करना कहाँ रहा? तो उससे कहा है कि हे भाई! तूने अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया है?—सर्वज्ञ का निर्णय किया है? तू अपने ज्ञानस्वभाव का और सर्वज्ञ का निर्णय कर तो तुझे खबर पड़ेगी कि क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ किस प्रकार आता है? पुरुषार्थ का यथार्थ स्वरूप ही अभी लोगों की समझ में नहीं आया है। अनादिकाल से पर में और राग में ही स्वत्व मानकर मिथ्यात्व के अनन्त दु:ख का अनुभव कर रहा है, उसके बदले ज्ञायक-स्वभाव का निर्णय होने से वह विपरीत मान्यता छूट गयी और ज्ञायकभाव की ओर दृष्टि ढली, वहाँ अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का अनुभव होता है—इसी में अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है। ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसका अनुभव करने से पुरुषार्थ, ज्ञान, श्रद्धा, आनन्द, चारित्र—इन समस्त गुणों का परिणमन स्वोन्मुख हुआ है। स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया, उसमें केवलज्ञान का निर्णय, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, भेदज्ञान, सम्यग्दर्शन, पुरुषार्थ, मोक्षमार्ग-यह सब एकसाथ आ गया है।

(१३४) निर्मल क्रमबद्धपर्याय कब प्रारम्भ होती है?

सर्व द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; और उसमें वे तद्रूप हैं—जीव अपनी पर्याय से उत्पन्न होता है, तथापि वह अजीव को उत्पन्न नहीं करता; इसलिये अजीव के साथ उसे कार्यकारणपना नहीं है। ऐसा होने पर भी, अज्ञानी अपनी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर न घुमाकर, 'मैं पर का करूँ'—ऐसी दृष्टि से अज्ञानरूप परिणमित होता है और इसलिये वह मिथ्यात्वादि कर्मों का निमित्त होता है। क्रमबद्ध तो क्रमबद्ध ही है, किन्तु अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय नहीं करता, इसलिये उसकी क्रमबद्धपर्याय शुद्ध न होकर विकारी होती है। यदि ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो दृष्टि बदल जाये और मोक्षमार्ग की निर्मल क्रमबद्धपर्याय प्रारम्भ हो जाय।

(१३५) "मात्र दृष्टि की भूल है"

चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञानस्वभाव है, वह स्व-पर का प्रकाशक है; इसलिये पदार्थ जैसे हैं, वैसा ही उनको जाननेवाला है, किन्तु किसी को आगे-पीछे करनेवाला नहीं है। भाई! जगत के समस्त पदार्थों में जिस पदार्थ की जिस समय जो अवस्था होना है, वह होना ही है; तू किसी परद्रव्य की अवस्था में फेरफार करने की सामर्थ्य नहीं रखता;—तो अब तुझे क्या करना रहा? अपने ज्ञायकस्वभाव को चूककर, 'मैं पर का कर्ता'—ऐसी दृष्टि में अटका है, उसकी कुलाँट मारकर ज्ञानस्वभाव की ओर अपनी दृष्टि घुमा! ज्ञायक की ओर दृष्टि करने से क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता रह जाता है; वह ज्ञाता अपने निर्मल ज्ञानादि-परिणामों का तो कर्ता है, किन्तु रागादि का या कर्म का कर्ता वह नहीं है। ऐसे ज्ञातास्वभाव को जो न माने और पर का कर्ता होकर उसकी क्रमबद्धपर्याय को बदलने जाये, तो उस जीव को सर्वज्ञ की भी सच्ची श्रद्धा नहीं है। जिस प्रकार सर्वज्ञभगवान ज्ञाता-दृष्टापने का ही कार्य करते हैं, किसी के परिणमन को नहीं बदलते; उसीप्रकार इस आत्मा का स्वभाव भी ज्ञाता-दृष्टापने का कार्य करना ही है।

पुण्य-पाप अधिकार की १६० वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि:-

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णिएणवच्छण्णो।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं॥

—यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छाद से।
संसार प्राप्त, न जानता वो सर्व को सब रीत से॥१६०॥

ज्ञानस्वरूपी आत्मा तो सर्व का ज्ञायक तथा दर्शक है; किन्तु अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता, इसीलिए वह अज्ञानरूप से वर्तता है। सर्व को जाननेवाला जो अपना सर्वज्ञस्वभाव अर्थात् ज्ञायकस्वभाव, अपने अपराध के कारण उसे स्वयं नहीं जानता, इसलिए ज्ञाता-दृष्टापने का परिणमन न होकर अज्ञान के कारण विकार का परिणमन होता है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होने के पश्चात् ज्ञानी को अस्थिरता के कारण अमुक रागादि होते हैं और ज्ञान का परिणमन अल्प होता है—उसकी यहाँ मुख्यता नहीं है, क्योंकि ज्ञानी को ज्ञाता-दृष्टापने की ही मुख्यता है। ज्ञायकदृष्टि के परिणमन में राग का कर्तापना नहीं है।

(१३६) 'पुरुषार्थ' भी न उड़े... और... 'क्रम' भी न टूटे!

अपनी क्रमबद्धपर्याय में ज्ञातापने का कार्य करता हुआ जीव दूसरे का भी कार्य करे-ऐसा

नहीं होता, इसप्रकार ज्ञायकजीव अकर्ता है। जड़ या चेतन, ज्ञानी या अज्ञानी—सब अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप ही उत्पन्न होते हैं।

❀ ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से पुरुषार्थ होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

❀ ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

❀ ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से चारित्रदशा होती है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

❀ ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से आनन्द प्रगट होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

❀ ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से केवलज्ञान होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

देखो, यह वस्तुस्थिति! पुरुषार्थ भी नहीं उड़ता और क्रम भी नहीं टूटता। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि का पुरुषार्थ होता है और वैसी निर्मलदशायें होती जाती हैं, तथापि पर्याय की क्रमबद्धता नहीं टूटती।

(१३७) अज्ञानी को क्या करना चाहिये ?

प्रश्न : हम तो अज्ञानी ही हैं, हमें क्या करना चाहिये ? क्या क्रमबद्ध मानकर बैठे रहें ?

उत्तर : भाई! अज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना चाहिये। स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा जहाँ ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया, वहाँ क्रमबद्ध का भी निर्णय हुआ और अपनी क्रमबद्धपर्याय में जो निर्मल पर्याय का क्रम था, वही पर्याय आकर उपस्थित हो गई। स्वसन्मुख पुरुषार्थ से रहित तो क्रमबद्ध की मान्यता भी सच्ची नहीं है। ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके परिणमित होने से, यद्यपि पर्याय का क्रम आगे-पीछे नहीं होता, तथापि सम्यग्दर्शनादि का परिणमन हो जाता है और अज्ञानदशा छूट जाती है। इसलिये, 'अज्ञानी को क्या करना चाहिये'—इसका उत्तर यह है कि अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके अज्ञान दूर करना चाहिये। प्रश्न ऐसा था कि—'क्या हम बैठे रहें ?'—किन्तु भाई! बैठे रहने की व्याख्या क्या ? यह जड़ शरीर बैठा रहे तो इसके साथ कहीं धर्म का सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी अनादिकाल से राग के साथ एकत्वबुद्धि करके उस राग में ही बैठा है—राग में ही स्थित है; उसके बदले ज्ञायकस्वभाव में एकता करके उसमें बैठे-अर्थात् एकाग्र हो तो अज्ञान दूर हो और सम्यग्दर्शनादि शुद्धता का अपूर्व क्रम प्रारम्भ हो।—इसका नाम धर्म है।

(१३८) एक बिना सब व्यर्थ!

मैं ज्ञाता ही हूँ और पदार्थ क्रमबद्ध परिणमित होनेवाले हैं—ऐसा जो नहीं मानता, वह

केवलीभगवान को, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को, पंच परमेष्ठी भगवन्तों को या शास्त्र को नहीं मानता; जीव-अजीव की स्वतंत्रता या सात तत्त्वों की उसे श्रद्धा नहीं है, मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ की तथा द्रव्य-गुण-पर्याय की, उपादान-निमित्त की या निश्चय-व्यवहार की भी उसे खबर नहीं है। जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं किया, उसका कुछ भी सच्चा नहीं है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे तो उसमें सभी पक्षों का निर्णय आ जाता है।

(१३९) पंचरूप से परमेष्ठी और उनका फैसला

प्रश्न : इस सम्बन्ध में आजकल बहुत झगड़े (मतभेद) चल रहे हैं, इसलिये 'पंचों' को बीच में रखकर इसका कुछ निपटारा करो न ?

उत्तर : भाई ! पंच परमेष्ठी भगवान ही हमारे 'पंच' हैं। ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय का यह जो वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है, उसी प्रकार अनादि से पंच परमेष्ठी भगवान कहते आये हैं, और महाविदेह में विराजमान सीमंधरादि भगवन्त इस समय भी यही उपदेश दे रहे हैं। इसके सिवा अज्ञानी विपरीत मानते हों तो भले मानें, किन्तु यहाँ तो पंच परमेष्ठी भगवन्तों को पंचरूप से रखकर यह बात कही जा रही है। पंच परमेष्ठी भगवन्त इसी प्रकार मानते आये हैं और इसी प्रकार कहते आये हैं। जिसे पंच परमेष्ठी में सम्मिलित होना हो, उसे इसी अनुसार मानना पड़ेगा।

देखो, यह पंचायत का फैसला !

हे भाई ! पंच परमेष्ठी भगवन्तों में अरिहन्त और सिद्ध भगवंत सर्वज्ञ हैं, तीन काल तीन लोक को प्रत्यक्ष जाननेवाले हैं—उस सर्वज्ञता को तू मानता है या नहीं मानता ?

—यदि तू वास्तव में सर्वज्ञता को मानता हो तो उसमें क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति भी आ ही गई।

—और यदि तू सर्वज्ञता को न मानता हो तो तूने पंचों को (-पंच परमेष्ठी भगवन्तों को) ही वास्तव में नहीं माना है।

''णमो अरिहंताणं और णमो सिद्धाणं''—ऐसा प्रतिदिन बोलते हैं, किन्तु अरिहन्त और सिद्धभगवान केवलज्ञान सहित हैं, वे तीन काल-तीन लोक को जानते हैं और उसी प्रकार होता है—ऐसा माने तो उसमें क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति आ ही जाती है। आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति को और क्रमबद्धपर्याय को जो नहीं मानता, वह पंच परमेष्ठी भगवन्तों को भी यथार्थस्वरूप से नहीं मानता। इसलिये जिसे वास्तव में पंच परमेष्ठी भगवन्तों को पहिचानना हो, उसे बराबर निर्णय

करके यह बात मानना चाहिये।—ऐसा पंचों का फैसला है।

(१४०) जीव के अकर्तृत्व की न्याय से सिद्धि

ज्ञायक आत्मा कर्म का अकर्ता है—ऐसा यहाँ आचार्यदेव न्याय से सिद्ध करते हैं:—

(१) प्रथम तो जीव और अजीव सभी द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं;

(२) जो पर्याय होती है, उसमें वे तद्रूप हैं;

(३) जीव अपने परिणामरूप से उत्पन्न होता है, तथापि वह पर को (-कर्म को) उत्पन्न नहीं करता; इसलिये उसे पर के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव नहीं है;

(४) उत्पाद्य-उत्पादकभाव के बिना कार्यकारणपना नहीं होता, इसलिये जीव कारण होकर कर्म को उत्पन्न करे, ऐसा नहीं होता, और—

(५) कारण-कार्यभाव के बिना जीव का अजीव के साथ कर्ता-कर्मपना सिद्ध नहीं हो सकता, अर्थात् ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव, कर्ता होकर मिथ्यात्वादि अजीव, कर्म को उत्पन्न करे—ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

—इसलिये ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होता हुआ ज्ञानी, कर्म का अकर्ता ही है। भाई! तू तो ज्ञानस्वभाव! तू अपने ज्ञाता-दृष्टाभावरूप से परिणमित होकर उस परिणाम में तद्रूप होकर उसे कर सकता है, किन्तु तू जड़कर्म का कर्ता हो—ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है। अहो! मैं... ज्ञा... य... क... हूँ... ऐसा अं...त...र्...मु...ख... हो... कर... स... म... झे... तो... जी...व... को... कि...त...नी... शां... ति... हो... जा...ये...!

(१४१) अजीव में भी अकर्तापना

यहाँ जीव का अकर्तापना समझाने के लिये आचार्यदेव ने जो न्याय दिया है, वह सर्व द्रव्यों में लागू होता है। अजीव में भी एक अजीव, दूसरे अजीव का अकर्ता है। जैसे कि—पानी उष्ण हुआ, वहाँ अग्नि उसका अकर्ता है, निम्नानुसार—

(१) अग्नि और पानी दोनों पदार्थ अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं;

(२) अपनी-अपनी जो पर्याय होती है, उसमें वे तद्रूप हैं

(३) अग्नि अपने परिणामरूप से उत्पन्न होती है, तथापि वह पानी की उष्ण अवस्था को उत्पन्न नहीं करती; इसलिये उसे पानी के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव नहीं है;

(४) उत्पाद्य-उत्पादकभाव के बिना कार्य-कारणपना नहीं होता, इसलिये अग्नि कारण होकर पानी की उष्ण अवस्था को उत्पन्न करे—ऐसा नहीं होता; और—

(५) कारण-कार्यभाव के बिना अग्नि का पानी के साथ कर्ता-कर्मपना सिद्ध नहीं हो सकता।

—इसलिये अग्नि, पानी की अकर्ता ही है। अग्नि, अग्नि की पर्याय में तद्रूप है और उष्ण पानी की अवस्था में वह पानी ही तद्रूप है। इसीप्रकार कुम्हार और घड़ा आदि जगत के समस्त पदार्थों में भी उपरोक्तानुसार पाँच बोल लागू करके एक-दूसरे का अकर्तापना समझ लेना चाहिये।

[नोट - यहाँ जो अग्नि और पानी का दृष्टान्त दिया है, वह जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये नहीं दिया है, किन्तु अजीव का परस्पर अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये दिया है-यह बात लक्ष में रखना चाहिये।]

(१४२) "....निमित्त कर्ता तो है न ?"

प्रश्न : जीव कर्ता है या नहीं ?

उत्तर : हाँ, जीव कर्ता अवश्य है, लेकिन किसका ? कि अपने ज्ञायकपरिणाम का; पुद्गलकर्म का नहीं।

प्रश्न : पुद्गलकर्म का निमित्त कर्ता है या नहीं ?

उत्तर : नहीं; ज्ञायकभावरूप से परिणमित होनेवाला जीव, मिथ्यात्वादि पुद्गलकर्म का निमित्तकर्ता भी नहीं है। कर्म के निमित्त होने पर जिसकी दृष्टि है, उस जीव को ज्ञायकभाव का परिणमन नहीं है किन्तु अज्ञानभाव का परिणमन है। अज्ञानभाव के कारण ही वह पुद्गलकर्म का निमित्तकर्ता होता है और वह संसार का ही कारण है।—यह बात आचार्यदेव ने आगे आनेवाली गाथाओं में भलीभाँति समझाई है।

(१४३) ज्ञाता का कार्य

ज्ञानस्वभावी आत्मा कर्ता होकर किसी पर्याय को आगे-पीछे बदल दे—ऐसा नहीं है। स्वयं अपने ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है; ज्ञातापरिणाम ही ज्ञानी का कार्य है। जिस प्रकार 'ईश्वर जगत का कर्ता'—यह बात मिथ्या है; उसी प्रकार जीव पर

का कर्ता–यह बात भी मिथ्या है। ज्ञायकमूर्ति आत्मा स्व–परप्रकाशक है, वास्तव में ज्ञायक तो शुभ–अशुभभावों का भी ज्ञाता ही है; उसमें एकतारूप परिणमित न होने से, किन्तु भिन्न ज्ञानभावरूप परिणमित होने से, वह राग का कर्ता नहीं है। राग को ज्ञान के साथ एकमेक करके जो उसका कर्ता होता है, उसकी दृष्टि 'ज्ञायक' पर नहीं है, किन्तु विकार पर है; इसलिये मिथ्यादृष्टि है। शुभभाव हो, वहाँ 'अशुभभाव होना थे, किन्तु ज्ञान ने उन्हें बदलकर शुभ कर दिया'—ऐसा जो मानता है, उसकी उन्मुखता भी विकार की ओर ही है; ज्ञायक की ओर उसकी उन्मुखता नहीं है। ज्ञाता तो ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर, अपने–अपने ज्ञाताभावरूप ही परिणमित होता हुआ, उस–उस समय के राग को भी ज्ञान का व्यवहारज्ञेय बनाता है, किन्तु उसे ज्ञान का कार्य नहीं मानता। उस समय जो ज्ञानपरिणमन हुआ (–उस ज्ञानपरिणमन के साथ सम्यक्श्रद्धा, आनन्द, पुरुषार्थ आदि का परिणमन भी साथ ही है) वही ज्ञाता का कार्य है। इस प्रकार ज्ञानी अपने निर्मल ज्ञान–आनन्दादि परिणामों का कर्ता है, किन्तु राग का या पर का कर्ता नहीं है।

(१४४) 'अकार्यकारणशक्ति' और पर्याय में उसका परिणमन

ज्ञानी जानता है कि मुझमें अकार्यकारणशक्ति है; मैं कारण होकर पर का कार्य करूँ और पर वस्तु कारण होकर मेरा कार्य करे—ऐसा पर के साथ कार्यकारणपना मुझे नहीं है। अरे! अन्तर में ज्ञान का कारण होकर राग को कार्यरूप से उत्पन्न करे, अथवा तो राग को कारण बनाकर ज्ञान उसके कार्यरूप से उत्पन्न हो—ऐसा ज्ञान और राग को भी कार्यकारणपना नहीं है।—ऐसी अकार्यकारणशक्ति आत्मा में है।

प्रश्न : अकार्यकारणपना तो द्रव्य में ही है न?

उत्तर : द्रव्य में अकार्यकारणशक्ति है—ऐसा माना किसने?—पर्याय ने। जिस पर्याय ने द्रव्योन्मुख होकर अकार्यकारणशक्ति को माना, वह पर्याय, द्रव्य के साथ अभेद होकर स्वयं भी अकार्यकारणरूप हो गयी है; इस प्रकार पर्याय में भी अकार्यकारणपना है। दूसरे प्रकार से कहा जाये तो—ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर जो पर्याय अभेद हुई, उस पर्याय में राग का या पर का कर्तृत्व नहीं है, यह तो ज्ञायकभावरूप ही है।

(१४५) आत्मा, पर का उत्पादक नहीं है

देखो भाई! जिसे अपना आत्महित करने की गरज हुई हो—ऐसे जीव के लिये यह बात है। अन्तर की लोकोत्तरदृष्टि की यह बात है; लौकिक बात के साथ इस बात का मेल नहीं जम सकता।

लोक-व्यवहार में तो आजकल ऐसी योजनायें चल रही हैं कि—'अनाज का उत्पादन बढ़ाओ और बस्ती का उत्पादन कम करो।' किन्तु यहाँ तो लोकोत्तरदृष्टि की बात है कि भाई! तू पर का उत्पादक नहीं है, तू तो ज्ञान है। 'अरे! अभक्ष्य वस्तु खाकर भी अनाज बचाओ'—ऐसा कहनेवाले तो अनार्यदृष्टिवाले हैं—ऐसों की बात तो दूर रही, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा कर्ता होकर पर को उत्पन्न करे या पर का उत्पन्न होना रोके-ऐसा माननेवाले भी मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानी को तो अन्तर में राग का भी अकर्तृत्व है-यह बात तो अभी इससे भी सूक्ष्म है।

(१४६) 'सब मानें तो सच्चा'-यह बात झूठ है। (सच्चे साक्षी कौन ?)

प्रश्न : सब लोग हाँ कहें तो आपकी बात सच्ची है!

उत्तर : अरे भाई! हमारे तो पंच परमेष्ठी ही पंच हैं, इसलिये जो पंच परमेष्ठी मानें, वह सच है। दुनिया के अज्ञानी लोग भले ही कुछ और मानें।

जैसा प्रश्न यहाँ किया, वैसा ही प्रश्न भैया भगवतीदासजी ने उपादान-निमित्त के दोहे में किया है; वहाँ निमित्त कहता है कि—

निमित्त कहै मोकों सबै जानत हैं जगलोय;
तेरो नांव न जानहि उपादान को होय ?॥४॥

—हे उपादान! जगत में घर-घर जाकर लोगों से पूछें तो सब मेरा ही नाम जानते हैं-अर्थात् निमित्त से कार्य होता है-ऐसा सब मानते हैं, किन्तु उपादान क्या है, उसका तो नाम भी नहीं जानते।

तब उसके उत्तर में उपादान कहता है कि—

उपादान कहे रे निमित्त! तू कहा करै गुमान ?
मोकों जानें जीव वे जो हैं सम्यक्वान॥५॥

—अरे निमित्त! तू गुमान किसलिये करता है ? जगत के अज्ञानी लोग मुझे भले ही न जानें, किन्तु जो सम्यक्वन्त ज्ञानी जीव हैं, वे मुझे जानते हैं।

निमित्त कहता है कि जगत से पूछें; उपादान कहता है कि ज्ञानी से पूछें।

उसी प्रकार निमित्त फिर से कहता है कि—

कहैं जीव सब जगत के जो निमित्त सोइ होय।
उपादान की बात को पूछे नाहीं कोय॥६॥

—जैसा निमित्त हो, वैसा कार्य होता है—ऐसा तो जगत के सभी जीव कहते हैं, किन्तु उपादान की बात को तो कोई पूछता भी नहीं है।

तब उसे उत्तर देते हुए उपादान कहता है कि—

उपादान बिन निमित्त तू कर न सके इक काज।
कहा भयौ जग ना लखे जानत हैं जिनराज॥८॥

—अरे निमित्त! उपादान के बिना एक भी कार्य नहीं हो सकता, अर्थात् उपादान से ही कार्य होता है।–जगत के अज्ञानी जीव इसे न जानें उससे क्या हुआ?–जिनराज तो ऐसा जानते हैं।

उसी प्रकार यहाँ, 'आत्मा का ज्ञायकस्वभाव और उसके ज्ञेयरूप से वस्तु की क्रमबद्धपर्यायें'—यह बात दुनिया के अज्ञानी जीव न समझे और उसका स्वीकार न करे तो उससे क्या? किन्तु पंच परमेष्ठीभगवान उसके साक्षी हैं; उन्होंने इसी प्रकार जाना है और इसीप्रकार कहा है; और जिस जीव को अपना हित करना हो–पंच परमेष्ठी श्रेणी में बैठना हो, उसे यह बात समझकर स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

(१४७) 'गोशाला का मत?'—या जैनशासन का मर्म?

यह तो जैनशासन की मूल बात है। इस बात को 'गोशाला का मत' कहनेवाला जैनशासन को नहीं जानता। प्रथम तो 'गोशाला' था ही कब? और यह बात तो अनेकों बार स्पष्ट कही जा चुकी है कि ज्ञायकस्वभावसन्मुख के पुरुषार्थ बिना एकान्त नियत माननेवाला इस क्रमबद्धपर्याय का रहस्य समझा ही नहीं है। सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की और ज्ञाता हुआ, उसी को क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय है और उसी ने जैनशासन को जाना है।

(१४८) कर्ता-कर्म का अन्य से निरपेक्षपना

उत्पाद्य वस्तु स्वयं ही अपनी योग्यता से उत्पन्न होती है, अन्य कोई उपादक नहीं है; वस्तु में ही वैसी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं परिणमित होने की शक्ति है—वैसी अवस्था की योग्यता है—वैसा ही स्वकाल है; तो उसमें दूसरा क्या करे? और यदि वस्तु में स्वयं में वैसी शक्ति न हो–योग्यता न हो–स्वकाल न हो तो भी दूसरा उसमें क्या करे? इसलिये अन्य से निरपेक्षपने से ही कर्ता–कर्मपना है। पहले कर्ता–कर्म अधिकार में आचार्यदेव यह बात कह गये हैं कि 'स्वयं अपरिणमित को पर द्वारा परिणमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वस्तु में तो शक्ति स्वयं न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता; और स्वयं परिणमित को तो पर परिणमित करनेवाले की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती।' (देखो, गाथा ११६ से १२५)

(१४९) सर्वत्र उपादान का ही बल

पुनश्च, पण्डित बनारसीदासजी भी कहते हैं कि:—

उपादान बल जहाँ-तहाँ, नहि निमित्त को दाव।
एक चक्रसों रथ चले, रवि को यहै स्वभाव॥५॥

—जहाँ देखो वहाँ उपादान का ही बल है, अर्थात् योग्यता से ही कार्य होता है, उसमें निमित्त का कोई दांव-पेंच नहीं है; 'निमित्त के कारण कार्य हुआ'—ऐसा निमित्त का दाव या बारी कभी आती ही नहीं; जहाँ देखो वहाँ उपादान का ही दाव है। 'ऐसा क्यों ?' कहते हैं—उपादान की वैसी ही योग्यता। 'निमित्त के कारण हुआ ?'-कहते हैं, नहीं।

(१५०)' -निमित्त बिना.... ??'

प्रश्न : निमित्त कुछ नहीं करता यह सच, किन्तु क्या निमित्त के बिना होता है ?

उत्तर : हाँ, भाई! उपादान के कार्य में तो निमित्त का अभाव है; इसलिये वास्तव में निमित्त के बिना ही कार्य होता है। निमित्त है अवश्य, किन्तु वह निमित्त में है, उपादान में उसका अभाव ही है, उस अपेक्षा से निमित्त बिना ही होता है।

—ऐसी बात आये वहाँ उपादान-निमित्त का भेदज्ञान समझने के बदले कुछ विपरीत दृष्टिवाले जीव कहते हैं कि—'अरे! निमित्त का निषेध हो जाता है!' भाई रे!' इसमें निमित्त के अस्तित्व का निषेध नहीं होता, निमित्त तो निमित्तरूप से ज्यों का त्यों रहता है। तू निमित्त को निमित्तरूप से रख, उसे उपादान में मत मिला। अज्ञानी, निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध को कर्ता-कर्मरूप से मानकर, उपादान-निमित्त की एकता कर डालते हैं।

''—कार्य होता तो है उपादान से, किन्तु कहीं निमित्त के बिना होता है ?

—शरीर की क्रिया होती शरीर से है, किन्तु कहीं जीव के बिना होती है ?

—विकार करता है जीव स्वयं, किन्तु कहीं कर्म के बिना होता है ?

—ज्ञान होता है स्वयं से, किन्तु कहीं गुरु के बिना होता है ?

—मोक्ष होता है जीव के उपादान से, किन्तु कहीं मनुष्यदेह के बिना होता है ?''

—इस प्रकार कितने ही दलील करते हैं; किन्तु भाई! उपादान की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है—ऐसा जो वास्तव में जानता है, उसे इसका भी ज्ञान होता है कि परनिमित्त कैसा होता है; इसलिये 'निमित्त के बिना....' का प्रश्न उसे नहीं रहता। वह तो जानता है कि उपादान से कार्य होता है और वहाँ योग्य निमित्त होता ही है—**गतैः धर्मास्तिकायवत्।**''

(देखो, श्री पूज्यपादाचार्यदेवकृत, इष्टोपदेश, गाथा-३५)

जो जीव स्व-पर दो वस्तुओं को मानता ही नहीं, निमित्त को जानता ही नहीं—ऐसे अन्यमती को निमित्त का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये 'निमित्त के बिना नहीं होता'—ऐसी दलील से समझाया जाता है; किन्तु जहाँ स्व-पर के भेदज्ञान की बात चलती हो, उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता का वर्णन चलता हो, वहाँ बीच में 'निमित्त बिना नहीं होता'—यह दलील रखना तो निमित्ताधीनदृष्टि ही सूचित करता है। 'निमित्त होता ही है' फिर 'निमित्त के बिना नहीं होता'—इस दलील का क्या काम है ?

प्रवचनसार गाथा १६० में आचार्यदेव कहते हैं कि वास्तव में मैं शरीर, वाणी और मन का आधारभूत नहीं हूँ, उनका कारण मैं नहीं हूँ, उनका कर्ता, प्रयोजक या अनुमोदक भी मैं नहीं हूँ; मेरे बिना ही, अर्थात् मैं उन शरीरादि का आधार हुए बिना, कारण हुए बिना, कर्ता हुए बिना, प्रयोजक या अनुमोदक हुए बिना, वे स्वयं अपने-अपने से ही होते हैं, इसलिये उन शरीरादि का पक्षपात छोड़कर अर्थात् मेरे निमित्त बिना वे नहीं हो सकते—ऐसा पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ-साक्षीस्वरूप-ज्ञायक हूँ। (देखो, प्रवचनसार गाथा-१६०)

(१५१) इस उपदेश का तात्पर्य और उसका फल

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! सर्व द्रव्यों को दूसरे के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है; इसलिये तू ज्ञाता ही रह। 'मैं ज्ञान हूँ'—ऐसा निर्णय करके जो स्वसन्मुख ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न हुआ, वह जीव अपने सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि कार्यरूप से उत्पन्न होता है; इसलिये उसका उत्पादक है, किन्तु कर्मादि पर का उत्पादक नहीं है। —इसप्रकार जीव को स्वभावसन्मुख दृष्टि करके निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होने के लिये यह उपदेश है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख दृष्टि करके परिणमित हुआ वहाँ—

- ज्ञानगुण अपने निर्मल परिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;
- श्रद्धागुण अपने सम्यग्दर्शनपरिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;
- आनन्दगुण अपने आनन्दपरिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;

—इसप्रकार ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर परिणमित होने से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-वीर्यादि समस्त गुणों को निर्मल परिणमनधारा बढ़ने लगी।—यह है ज्ञायकस्वभाव की और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति का फल! ●●

सातवाँ प्रवचन

[आश्विन शुक्ला ३, वीर सं० २४८०]

एक ओर अकेला ज्ञायकस्वभाव और दूसरी ओर क्रमबद्धपर्याय—इसका यथार्थ निर्णय करने में सब आ जाता है, वह मूल वस्तुधर्म है, वह केवली-भगवान का उदर है, सन्तों का हार्द है, शास्त्रों का मर्म है, विश्व का दर्शन है और मोक्षमार्ग का कर्तव्य कैसे होता है, उसकी यह रीति है।

अज्ञानी कहते हैं कि ''छूत की बीमारी'' है, तब यहाँ कहते हैं कि यह तो सर्वज्ञ का हार्द है; जिसे यह बात बैठ गई, उसके हृदय में सर्वज्ञ बैठ गये, —वह अल्पज्ञ होने पर भी ''मैं सर्वज्ञ जैसा ज्ञाता ही हूँ''—ऐसा उसे निर्णय हो गया।

(१५२) अधिकार का नाम

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की पहली चार गाथाओं की वचनिका हो रही है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार कहो, ज्ञायकद्रव्य का अधिकार कहो, या क्रमबद्धपर्याय का अधिकार कहो। जहाँ ज्ञायकद्रव्य को पकड़कर ज्ञान एकाग्र हुआ, वहाँ वह ज्ञान सर्वविशुद्ध हो गया और उस ज्ञान के विषयरूप से सर्व द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय है, उसका भी उसे निर्णय हो गया।

(१५३) 'क्रमबद्ध' और 'कर्मबन्धन'!

देखो, यह क्रमबद्धपर्याय की बात छह दिन से चल रही है और आज सातवाँ दिन है; बहुत-बहुत पक्षों से स्पष्टीकरण हो गया है, तथापि कुछ लोगों को यह बात समझना कठिन मालूम होता है। कोई तो कहते हैं कि—''महाराज! आप क्या कहते हो, 'कर्मबन्ध' मानना, यह सम्यग्दर्शन है-ऐसा आप कहते हो?''—अरे भाई! यह 'क्रमबद्ध' अलग और 'कर्मबन्ध' अलग! दोनों के बीच विशाल अन्तर है। कर्मबन्धरहित ज्ञायकस्वभाव कैसा है और वस्तु की पर्याय में क्रमबद्धता किस प्रकार है, उसे पहिचाने तो सम्यग्दर्शन हो। इस 'क्रमबद्ध' को समझ ले तो 'कर्मबन्ध' का नाश हो और जो 'क्रमबद्ध' को न समझे, उसे 'कर्मबन्ध' होता है।

(१५४) 'ज्ञायक' और 'क्रमबद्ध' दोनों का निर्णय एकसाथ

जीव में या अजीव में प्रतिसमय जो क्रमबद्धपर्याय होना है, वही होती है; पहले होनेवाली पर्याय बाद में नहीं होती, और बाद में होनेवाली पर्याय पहले नहीं होती। अनादि-अनन्त काल

प्रवाह के जितने समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं; उनमें जिस समय जिस पर्याय का नम्बर (क्रम) है, उस समय वही पर्याय होती है। जिस प्रकार सात वारों में रविवार के बाद सोमवार और फिर मंगलवार-इसप्रकार ठीक क्रमबद्ध ही आते हैं, उल्टे-सीधे नहीं आते; उसीप्रकार एक से सौ तक के नम्बरों में १ के बाद २, ५० के बाद ५१, ९९ के बाद १०० इसप्रकार सब क्रमबद्ध ही आते हैं; उसीप्रकार द्रव्य की क्रमबद्धपर्यायों में जो ५१ वीं पर्याय होगी, वह ५० वीं या ५२ वीं नहीं होती और जो '५२' वीं हो वह ५१ वीं नहीं होती। अर्थात् पर्याय के क्रमबद्धपने में कोई भी पर्याय बीच से हटकर आगे-पीछे नहीं होती। जिसप्रकार पदार्थ की पर्याय का ऐसा क्रमबद्धस्वरूप है, उसीप्रकार आत्मा का ज्ञायकस्वरूप है। मैं सर्वविशुद्धज्ञानमात्र ज्ञायक हूँ—ऐसे ज्ञायकस्वरूप के निर्णय के साथ क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जाता है। आत्मा का ज्ञायकस्वरूप और पर्यायों का क्रमबद्धस्वरूप—इन दो में से एक को भी न माने तो ज्ञान और ज्ञेय का मेल नहीं रहता अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं होता। ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय—इन दोनों का निर्णय एकसाथ ही होता है।—कब होता है ?—जब ज्ञानस्वभाव की ओर ढले तब।

(१५५) यह बात किसे परिणमित होती है ?

अभी तो जिसने यथार्थ गुरुगम से ऐसी बात का श्रवण भी नहीं किया है, वह उसका ग्रहण और धारण तो कहाँ से करेगा ? और सत्य का ग्रहण तथा धारण किये बिना ज्ञानस्वभावसन्मुख होकर उसकी रुचि का परिणमन कहाँ से होगा ? यहाँ ऐसा कहना है कि अभी जो विपरीत बात का श्रवण और पोषण कर रहे हैं, उनके सत्यरुचि के परिणमन की योग्यता नहीं है। जिसके अन्तर की महान पात्रता और पुरुषार्थ हो, उसी को यह बात परिणमित होती है।

(१५६) धर्म का पुरुषार्थ

उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्तं सत्, और सत्, वह द्रव्य का लक्षण है; उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की बात का समावेश हो जाता है; क्रमबद्धपर्याय के बिना उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते। प्रत्येक पर्याय का उत्पाद अपने-अपने काल में एक समयपर्यन्त सत् है। अकेली पर्याय पर या राग पर दृष्टि रखकर इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता, किन्तु ध्रुव ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। अनेक लोगों को ऐसा प्रश्न उठता है कि—क्रमबद्धपर्याय में धर्म का पुरुषार्थ करना कहाँ रहा ? उनसे कहते हैं कि भाई ! सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के अन्तरपुरुषार्थ बिना यह बात निश्चित ही नहीं होती। 'मैं ज्ञायक हूँ'—ऐसी दृष्टि के बिना क्रमबद्धपर्याय का ज्ञान

करेगा कौन? ज्ञान के निर्णय बिना ज्ञेय का निर्णय होता ही नहीं। ज्ञान के निर्णयसहित क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करे तो अनन्त पदार्थों में कहीं भी फेरफार करने का अनन्त अहंकार दूर हो जाये और ज्ञातारूप ही रहे। - इसी में मिथ्यात्व के और अनन्तानुबन्धी कषाय के नाश का पुरुषार्थ आ गया। यही धर्म के पुरुषार्थ का स्वरूप है, अन्य कोई बाहर का पुरुषार्थ नहीं है।

(१५७) 'क्रमबद्ध' का निर्णय और उसका फल

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किसे होता है ? और उसका फल क्या ?

—जिसकी बुद्धि ज्ञायकभाव में एकाग्र हुई है और राग में या पर का फेरफार करने की मान्यता में रुक नहीं गई है, उसी को क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हुआ है और उस निर्णय के साथ उसे पुरुषार्थादि पाँचों समवाय (पूर्वोक्त प्रकार से) आ जाते हैं; और स्वसन्मुख होकर वह निर्णय करते ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का क्रमबद्धप्रवाह प्रारम्भ हो जाता है-यही उसका फल है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, या मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ कहो, तीनों एक साथ ही हैं; उनमें से एक हो और दूसरे दो न हों—ऐसा नहीं हो सकता।

प्रत्येक पदार्थ सत् है, उसका जो अनादि-अनन्त जीवन है, उसमें तीनों काल की पर्यायें एकसाथ प्रगट नहीं हो जातीं, किन्तु एक के बाद एक प्रगट होती है और प्रत्येक समय की पर्याय व्यवस्थित क्रमबद्ध है। ऐसे वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले को सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय हुआ और अपने ज्ञान में वैसा सर्वज्ञता का सामर्थ्य है—उसका भी निर्णय हो गया। ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता में इन सबका निर्णय एकसाथ हो जाता है। अक्रम ऐसे ज्ञायकस्वभावी द्रव्य की ओर उन्मुख होकर उसका निर्णय करने से पर्याय की क्रमबद्धता का निर्णय भी हो जाता है; अक्रमरूप अखण्ड द्रव्य की दृष्टि बिना पर्याय की क्रमबद्धता का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

भगवान! द्रव्य त्रिकाली सत् है और पर्याय एक-एक समय का सत् है; वह सत् जैसा है, उसे वैसा ही जानने का तेरा स्वभाव है, किन्तु उसमें कहीं उल्टा-सीधा करने का तेरा स्वभाव नहीं है। अरे, सत् में 'ऐसा क्यों ?'—इसप्रकार विकल्प करने का भी तेरा स्वभाव नहीं है।—ऐसे स्वभाव की प्रतीति करने से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है और उसमें मोक्षमार्ग के पाँचों समवाय एकसाथ आ जाते हैं।

(१५८) यह है सन्तों का हार्द

एक ओर अकेला ज्ञायकस्वभाव और दूसरी ओर क्रमबद्धपर्याय—इसका यथार्थ निर्णय

करने में सब आ जाता है, वह मूल वस्तुधर्म है, वह केवलीभगवान का उदर है, सन्तों का हार्द है, शास्त्रों का मर्म है, विश्व का दर्शन है और मोक्षमार्ग कर्तव्य कैसा होता है, उसकी यह रीति है।

अज्ञानी कहते हैं कि यह 'छूत की बीमारी है', तब यहाँ कहते हैं कि यह सर्वज्ञ का हार्द है; जिसे यह बात बैठ गई, उसके हृदय सर्वज्ञ बैठ गये—वह अल्पज्ञ होने पर भी 'मैं सर्वज्ञ जैसा ज्ञाता हूँ'—ऐसा उसे निर्णय हो गया।

अभी जिन्होंने ऐसे वस्तुस्वरूप का निर्णय नहीं किया, अरे! यह बात सुनी भी नहीं, और यों ही त्यागी या व्रतपना लेकर धर्म मान लिया है, उन्हें धर्म तो नहीं है, किन्तु धर्म की रीति क्या है—इसकी भी उन्हें खबर नहीं है।

(१५९) जो यह बात समझ ले, उसकी दृष्टि बदल जाती है

यहाँ ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की बात है; इसलिये ज्ञानस्वभाव का निर्णय क्या, पुरुषार्थ क्या, सम्यग्दर्शन क्या,—यह सब साथ ही आ जाता है और इस दृष्टि में तो गृहीत या अगृहीत दोनों मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। जो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं करता, पुरुषार्थ को नहीं मानता, सम्यग्दर्शन नहीं करता और 'जो होना होगा, वह होगा'—इसप्रकार एकान्त नियत को पकड़कर स्वच्छन्दी होता है, वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है, ऐसे जीव की यहाँ बात नहीं है। यह बात समझ ले, उसे ऐसा स्वच्छन्द रहता ही नहीं, उसकी तो दृष्टि का सारा परिणमन ही बदल जाता है।

(१६०) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की ही मुख्यता

द्रव्यदृष्टि के बिना क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता, क्योंकि क्रमबद्धपना समय-समय की पर्याय में है और छद्मस्थ का उपयोग असंख्य समय का है, उस असंख्य समय के उपयोग में एक-एक समय की पर्याय पृथक् करके नहीं पकड़ी जा सकती, किन्तु ध्रुवज्ञायकस्वभाव में उपयोग एकाग्र हो सकता है। इसलिये समय-समय की पर्याय का क्रमबद्धपना पकड़ते हुए उपयोग अन्तरोन्मुख होकर ध्रुवज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होता है और ज्ञायक की प्रतीति में क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी हो जाती है। इस प्रकार इसमें ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि ही मुख्य है।

(१६१) जैसा वस्तुस्वरूप, वैसा ही ज्ञान और वैसी ही वाणी

देखो, यह वस्तुस्वरूप! पदार्थ का जैसा स्वरूप हो, वैसा ही ज्ञान जाने, तो वह ज्ञान सच्चा हो। समस्त पदार्थों की तीनों काल की पर्यायें क्रमबद्ध हैं,—ऐसा ही वस्तुस्वरूप है; सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान में प्रत्यक्ष इसप्रकार जाना है और वाणी में भी वैसा ही कहा है; इसप्रकार पदार्थ, ज्ञान

और वाणी, तीनों समान हैं। पदार्थों का जैसा स्वभाव है, वैसा ही ज्ञान में देखा; और जैसा ज्ञान में देखा; वैसा ही वाणी में आया—ऐसे वस्तुस्वरूप से जो विपरीत मानता है—आत्मा कर्ता होकर पर की पर्याय बदल सकता है—ऐसा मानता है, वह पदार्थ के स्वभाव को नहीं जानता; सर्वज्ञ के केवलज्ञान को नहीं जानता और सर्वज्ञ के कहे हुए आगम को भी वह नहीं जानता; इसलिये देव-गुरु-शास्त्र को उसने वास्तव में नहीं माना है।

इस 'क्रमबद्धपर्याय' के सम्बन्ध में आजकल अनेक जीवों का कुछ निर्णय नहीं है और बड़ी गड़बड़ी चल रही है; इसलिये यहाँ अनेकानेक प्रकारों से उसकी स्पष्टता की गई है।

(१६२) स्वच्छन्दी के मन का मैल (१)

प्रश्न : आप कहते हैं कि जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा होगा, वैसा क्रमबद्ध होगा; तो फिर हमारी पर्याय में मिथ्यात्व भी जैसा क्रमबद्ध होना होगा, वैसा होगा ?

उत्तर : अरे मूढ़! तुझे सर्वज्ञ को मानना नहीं है और स्वच्छन्द का पोषण करना है!—निकाल दे अपने मन का मैल!! सर्वज्ञ का निर्णय करे और मिथ्यात्व भी रहे-यह कहाँ से लाया ? तूने सर्वज्ञ का निर्णय ही नहीं किया है। इसलिये अन्तर का मैल निकाल दे...गोटे निकाल दे और ज्ञानस्वभाव के निर्णय का उद्यम कर। ज्ञानस्वभाव के निर्णय बिना 'क्रमबद्ध' की बात तू कहाँ से लाया ? मात्र 'क्रमबद्ध' शब्द को पकड़ रखने से नहीं चलेगा। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके क्रमबद्ध को माने तो अपनी पर्याय में मिथ्यात्व रहने का प्रश्न ही न उठे, क्योंकि उसकी पर्याय तो अन्तरस्वभावोन्मुख हो गई है, उसे अब मिथ्यात्व का क्रम हो ही नहीं सकता और सर्वज्ञभगवान भी ऐसा देख ही नहीं सकते।

जिसे ज्ञानस्वभाव का भान नहीं है, सर्वज्ञदेव का निर्णय नहीं है और उस प्रकार का उद्यम भी नहीं करता, विकार की रुचि नहीं छोड़ता और मात्र भाषा में 'क्रमबद्धपर्याय' का नाम लेकर स्वच्छन्दी होता है, वैसा जीव तो अपने आत्मा को ही ठगता है। अरे! जो परम वीतरागता का कारण है, उसकी ओट लेकर स्वच्छन्द का पोषण करता है, यह तो महान विपरीतता है।

(१६३) स्वच्छन्दी के मन का मैल (२)

एक त्यागी-पंडितजी ने विद्यार्थी पर खूब क्रोध किया; जब किसी ने उनसे कहा तो वे बोले कि—'अरे भैया! तुमने गोम्मटसार नहीं पढ़ा, गोम्मटसार में ऐसा लिखा है कि जब क्रोध का उदय आता है, तब क्रोध हो ही जाता है।' देखो, यह गोम्मटसार पढ़कर सार निकाला! अरे भाई! तू

गोम्मटसार की ओट न ले, तुझ जैसे स्वच्छन्द की पुष्टि करनेवाले के लिये वह कथन नहीं है। पहले तो क्रोधादिकषाय होने का भय रहता था और अपने दोषों की निन्दा करता था, उसके बदले अब तो वह भी नहीं रहा! भाई! शास्त्र का उपदेश तो वीतरागता के लिये होता है या कषाय बढ़ाने के लिये? अज्ञानदशा में जैसा कषाय था, वैसे ही कषाय में खड़ा हो तो उसने शास्त्र पढ़े ही नहीं, भले ही वह गोम्मटसार का नाम ले, किन्तु वास्तव में वह गोम्मटसार को नहीं मानता।

(१६४) स्वच्छन्दी के मन का मैल (३)

—इसी प्रकार अब इस क्रमबद्धपर्याय की बात में लो। कोई जीव रुचिपूर्वक तीव्र क्रोधादिभाव करे और फिर कहे कि—'क्या किया जाये भाई! हमारी क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही होना थी!' क्रमबद्धपर्याय सुनकर ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने के बदले, यदि ऐसा सार निकाले तो वह स्वच्छन्दी है, वह क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है। अरे भाई! तू क्रमबद्धपर्याय की ओट न ले, तुझे जैसे स्वच्छन्द का पोषण करनेवाले के लिये यह बात नहीं है। पहले तो क्रोधादि कषाय का भय रहता था और अपने दोषों की निन्दा करता था, उसके बदले अब तो वह भी नहीं रहा। भाई रे! यह क्रमबद्धपर्याय का उपदेश तो अपने ज्ञायकभाव की दृष्टि करने के लिये है या विकार की रुचि का पोषण करने के लिये? जो विकार की रुचि छोड़कर ज्ञानस्वभाव की दृष्टि नहीं करता, वह जीव क्रमबद्धपर्याय की बात समझा ही नहीं है; भले ही क्रमबद्धपर्याय का नाम ले, किन्तु वास्तव में वह क्रमबद्धपर्याय को मानता ही नहीं है।

इसलिये हे भाई! अपने मन का मैल निकाल दे, स्वच्छन्द का बचाव छोड़ दे और विकार की रुचि छोड़कर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का उद्यम कर।

(१६५) सम्यक्त्वी की अद्भुत दशा!

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय की सच्ची समझ कैसे होती है?

उत्तर : 'मैं ज्ञायक हूँ'—इस प्रकार ज्ञाता की ओर ढलकर, अपनी दृष्टि को ज्ञायकस्वभाव की ओर मोड़ दे, उसी को क्रमबद्धपर्याय की सच्ची समझ होती है, इसके सिवा नहीं होती। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय माननेवाले की दृष्टि, क्रोध पर नहीं होती, किन्तु ज्ञायक पर ही होती है; और ज्ञायकदृष्टि के परिणमन में क्रोधादि नहीं रहते। ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि का ऐसा परिणमन हुए बिना जीव को सच्चा सन्तोष और समाधान नहीं होता; और सम्यक्त्वी को ऐसी दृष्टि का परिणमन होने से उनके सब समाधान हो गये हैं। ज्ञायकपने के परिणमन में उन्हें किसी का अभिमान भी नहीं रहा

और अपने में प्रमाद भी नहीं रहा तथा आकुलता भी नहीं रही। ज्ञातापने के परिणमन की धारा चल रही है, उसमें व्याकुलता भी कैसी ? और प्रमाद भी कैसा ?—ऐसी सम्यक्त्वी की अद्‌भुत दशा है।

(१६६) ज्ञातापने से च्युत होकर अज्ञानी कर्ता होता है

एक ओर ज्ञाता-भगवान, और सामने पदार्थों का क्रमबद्ध-परिणमन-उनका आत्मा ज्ञाता ही है, ऐसा मेल है; उसके बदले वह मेल तोड़कर (अर्थात् स्वयं अपने ज्ञातास्वभाव से च्युत होकर) जो जीव कर्ता होकर पर के क्रम को बदलना चाहता है, वह जीव, पर के क्रम को तो नहीं बदल सकता, किन्तु उसकी दृष्टि में विषमता (मिथ्यात्व) होती है। ज्ञायकपने का निर्मल प्रवाह चलना चाहिये, उसके बदले विपरीतदृष्टि के कारण वह विकार के कर्तृत्वरूप से परिणमित होता है।

(१६७) सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान कब होते हैं ?

जिसे अपना हित करना हो—ऐसे जीव के लिये यह बात है। हित, सत्य से होता है किन्तु असत्य से नहीं होता। सत्य के स्वीकार बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता और सम्यक्‌ज्ञान के बिना धर्म या हित नहीं होता। जिसे अपने ज्ञान में से असत्यपना टालकर सत्यपना करना हो, उसे क्या करना चाहिये ?—उसकी यह बात है।

जैसा पदार्थ है, वैसी ही उसकी श्रद्धा करे; और जैसी श्रद्धा है, वैसा ही पदार्थ हो—तो वह श्रद्धा सच्ची है; इसीप्रकार जैसा पदार्थ है, वैसा ही उसका ज्ञान करे; और जैसा ज्ञान करे, वैसा ही पदार्थ हो-तो वह ज्ञान सच्चा है।

''आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञायकपना ही जीवतत्त्व का सच्चा स्वरूप है और पदार्थ क्रमबद्धपर्याय से स्वयं परिणमित होनेवाले हैं; यह 'ज्ञायक' अपने ज्ञानसहित उनका ज्ञाता है, किन्तु वह किसी के क्रम को बदलकर आगे-पीछे करनेवाला नहीं है''—ऐसे वस्तुस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान करे तो वे श्रद्धा-ज्ञान सच्चे हों, इसलिये हित और धर्म हो।

(१६८) मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान का विषय जगत में नहीं है

—किन्तु कोई ऐसा माने कि 'मैं कर्ता होकर पर की अवस्था को बदल दूँ अर्थात् मेरा पर के साथ कार्यकारणपना है'—तो उसकी मान्यता मिथ्या है, क्योंकि उसकी मान्यतानुसार वस्तुस्वरूप जगत में नहीं है। मिथ्याश्रद्धा का (और मिथ्याज्ञान का) विषय जगत में नहीं है। जिस प्रकार जगत में 'गधे का सींग' कोई वस्तु ही नहीं है, इसलिये 'गधे का सींग' ऐसी श्रद्धा या ज्ञान वह मिथ्या ही है। उसी प्रकार 'पर के साथ कार्यकारणपना हो'—ऐसी कोई वस्तु ही जगत में नहीं है, तथापि 'मैं

पर का करूँ'—इस प्रकार जो पर के साथ कार्यकारणपना मानता है, उसकी श्रद्धा और ज्ञान मिथ्या ही है क्योंकि उसकी मान्यतानुसार कोई विषय जगत में नहीं है। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि—जिसप्रकार 'गधे का सींग' और पर के साथ कार्यकारणपना जगत में नहीं है, उसी प्रकार मिथ्याश्रद्धा भी नहीं है। मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान तो अज्ञानी को पर्याय में है; किन्तु उसकी श्रद्धानुसार वस्तुस्वरूप जगत में नहीं है। अज्ञानी की पर्याय में मिथ्याश्रद्धा तो 'सत्' है, किन्तु उसका विषय 'असत्' है, अर्थात् उसका कोई विषय जगत में नहीं है।

देखो, यहाँ कहा है कि—'मिथ्याश्रद्धा सत् है' इसका क्या मतलब?—कि जगत में मिथ्याश्रद्धा का अस्तित्व (सत्पना) है। मिथ्याश्रद्धा है ही नहीं—ऐसा नहीं है, किन्तु उस मिथ्याश्रद्धा के अभिप्रायानुसार कोई वस्तु जगत में नहीं है। यदि उस श्रद्धानुसार वस्तु का स्वरूप हो तो उसे मिथ्याश्रद्धा न कहा जाये।

(१६९) इसमें क्या करना आया ?

यहाँ एक बात चल रही है कि आत्मा का ज्ञायकपना और सर्व वस्तुओं की पर्यायों का क्रमबद्धपना माने बिना श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नहीं होते, और सच्चे श्रद्धा-ज्ञान बिना हित या धर्म नहीं होता।

कोई पूछे कि इसमें क्या करना आया?—तो उसका उत्तर यह है कि—पहले पर का कर्तृत्व मानकर विकार में एकाग्र होता था, उसके बदले अब ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करके ज्ञाता-दृष्टा रहा। उस ज्ञाता-दृष्टापने में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन, स्वभाव का पुरुषार्थ आदि भी साथ ही हैं।

(१७०) ज्ञायकसन्मुख दृष्टि का परिणमन ही सम्यक्त्व का पुरुषार्थ

ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके जिसने क्रमबद्धपर्याय मानी, उसके स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी साथ ही आ गया है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख जो परिणमन हुआ, उसमें पुरुषार्थ कहीं अलग नहीं रह जाता; पुरुषार्थ भी साथ ही परिणमित होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, स्वसन्मुख पुरुषार्थ, या सम्यग्दर्शन-यह सब कहीं, पृथक्-पृथक् नहीं है, किन्तु एक ही है। इसलिये कोई ऐसा कहे कि 'हमने ज्ञायक का और क्रमबद्ध का निर्णय तो कर लिया, किन्तु अभी सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ करना बाकी है,' तो उसका निर्णय सच्चा नहीं है क्योंकि यदि ज्ञायकस्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो तो सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ उसमें आ ही जाता है।

(१७१) ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही निर्मलपर्याय का प्रवाह

❀ स्वसन्मुखपुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है, तथापि वह क्रमबद्ध है।

❀ ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से मुनिदशा होती है, तथापि वह क्रमबद्ध है।

❀ ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से शुक्लध्यान होता है, तथापि वह क्रमबद्ध है।

❀ ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से केवलज्ञान और मोक्षदशा होती है, तथापि वह भी क्रमबद्ध है।

—इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही निर्मलपर्याय का प्रवाह चलता है। जो ज्ञायकस्वभाव का आश्रय नहीं करता, उसे क्रमबद्धपर्याय में निर्मल प्रवाह प्रारम्भ नहीं होता, किन्तु मिथ्यात्व चालू ही रहता है। स्वसन्मुखपुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभाव का आश्रय किये बिना किसी को भी निर्मलपर्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाये–ऐसा नहीं होता।

(१७२) अकेले ज्ञायक पर ही जोर

देखो, इसमें जोर कहाँ आया? अकेले ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन पर ही सारा जोर आया। कालप्रवाह की ओर देखकर बैठा रहना नहीं आया, किन्तु ज्ञायक की ओर देखकर उसमें एकाग्र होना आया। ज्ञानी की दृष्टि का जोर निमित्त पर, राग पर या भेद पर नहीं है, किन्तु अक्रम ऐसे चैतन्यभाव पर ही उसकी दृष्टि का जोर है; और वही सच्चा पुरुषार्थ है। अन्तर में अपने ज्ञायकस्वभाव की ही स्वज्ञेय बनाकर ज्ञान एकाग्र हुआ, वही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र और मोक्ष का कारण है।

(१७३) तुझे ज्ञायक रहना है या पर को बदलना है ?

ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, उसका फल वीतरागता है, और वही जैनशासन का सार है। जिन्हें ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है, सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है—ऐसे लोग इस 'क्रमबद्धपर्याय' के सम्बन्ध में ऐसी दलील करते हैं कि—'ईश्वर का कर्तृत्व माने वहाँ तो भक्ति आदि से ईश्वर को संतुष्ट करके उसमें फेरफार भी कराया जा सकता है, किन्तु यह क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत तो इतना कठिन है कि ईश्वर भी इसमें फेरफार नहीं कर सकता!'—अरे भाई! तुझे अपने में ज्ञायकरूप से रहना है या किसी में फेरफार करने जाना है? क्या पर में कहीं फेरफार करके तुझे सर्वज्ञ का ज्ञान मिथ्या सिद्ध करना है? तुझे आत्मा के ज्ञानस्वभाव को मानना है

या नहीं ? ज्ञानस्वभावी आत्मा के पास से ज्ञाता-दृष्टापने के अतिरिक्त दूसरा कौन सा काम तुझे लेना है ? ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके ज्ञायकस्वभावरूप से परिणमित होने में सम्पूर्ण मोक्षमार्ग का समावेश हो जाता है।

(१७४) ज्ञानी ज्ञाता ही रहते हैं, और उसमें पाँचों समवाय आ जाते हैं

एक बार ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो ज्ञातापना हो जाये और पर के कर्तृत्व का अभिमान उड़ जाये; इसलिये पर के प्रति एकत्वबुद्धि के अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष, हर्ष-शोक का तो भुक्का हो गया। राग का और पर का संग छोड़कर, अन्तर में ज्ञायकस्वभाव का संग करे, उसे ज्ञेयों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है; इसलिये वह ज्ञाता ही रहता है; एकत्वबुद्धिपूर्वक के राग-द्वेष उसे कहीं होते ही नहीं। शिष्य की ज्ञानादि पर्याय उसके अपने से क्रमबद्ध होती है, मैं उसका क्या करूँ ?—मैं तो ज्ञाता ही हूँ;—ऐसा जाना, वहाँ ज्ञानी को उसके प्रति एकत्वबुद्धि से राग या द्वेष (शिष्य होशियार हो तो राग, और उसे न आये तो द्वेष) होता ही नहीं; और इसप्रकार ज्ञानी को कहीं भी एकत्वबुद्धि से रागादि नहीं होते; उसके तो अपने ज्ञानस्वभाव में एकत्वबुद्धि से निर्मल ज्ञानादि परिणाम ही होते हैं।

ज्ञायकभाव का जो परिणमन हुआ, वही उसका स्वकाल है, वही उसका नियत है, वही उसका स्वभाव है, वही उसका पुरुषार्थ है और उसमें कर्म का अभाव है। इसप्रकार ज्ञायकभाव के परिणमन में ज्ञानी के एक साथ पाँचों समवाय आ जाते हैं।

(१७५) यहाँ जीव को उसका ज्ञायकपना समझाते हैं

जीव क्रमबद्ध अपनी ज्ञानादि पर्यायरूप से उत्पन्न होता है; इसलिये उसे अपनी पर्याय के साथ कार्य-कारणपना है, किन्तु पर के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के कारण-कार्य का अभाव है। इस द्रव्य में अपनी क्रमबद्धपर्याय का कार्य-कारणपना प्रतिसमय हो रहा है और उसी समय सामने जगत के अन्य द्रव्यों में भी अपनी-अपनी पर्याय का कारण-कार्यपना बन ही रहा है, किन्तु सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्यों के साथ कारण-कार्यपने का अभाव है। ऐसी वस्तुस्थिति समझे तो, मैं कारण होकर पर का कुछ भी कर दूँ—ऐसा गर्व कहाँ रहता है ? यह समझे तो भेदज्ञान होकर ज्ञायकस्वभावोन्मुख हो जाये। जीव को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख करने के लिये यह बात समझाते हैं। जिसकी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव पर नहीं है, प्रत्येक वस्तु क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं ही उत्पन्न होती है, उसकी जिसे खबर नहीं है और रागादि द्वारा पर

की अवस्था में फेरफार करना मानता है—ऐसे जीव को समझाते हैं कि अरे जीव! तेरा स्वरूप तो ज्ञान है; जगत के पदार्थों की जो क्रमबद्ध अवस्था होती है, उसका तू बदलनेवाला या करनेवाला नहीं है, किन्तु जाननेवाला है; इसलिये अपने ज्ञातास्वभाव की प्रतीति कर और ज्ञातारूप से ही रह;—अर्थात् ज्ञानस्वभाव में ही एकाग्र हो; यही तेरा सच्चा कार्य है।

(१७६) जीव को अजीव के साथ कारण-कार्यपना नहीं है।

जगत के पदार्थों में स्वाधीनरूप से जो क्रमबद्ध अवस्था होती है, वही उनकी व्यवस्था है, उस व्यवस्था को आत्मा नहीं बदल सकता। जीव अपने ज्ञानरूप से परिणमित होता हुआ, साथ में अजीव की अवस्था को भी कर दे, ऐसा नहीं होता। आत्मा और जड़ दोनों में प्रतिसमय अपना-अपना नया-नया कार्य उत्पन्न होता है और वे स्वयं उसमें तद्रूप होने से उसका कारण हैं; इसप्रकार प्रत्येक वस्तु को अपने में समय-समय नया-नया कार्य-कारणपना बन ही रहा है, तथापि उन्हें एक-दूसरे के साथ कार्य-कारणपना नहीं है। जैसा ज्ञान हो, वैसी भाषा निकलती हो अथवा जैसे शब्द हों, वैसा ही ज्ञान होता हो, तथापि ज्ञान को और शब्द को कारण-कार्यपना नहीं है। इच्छानुसार भाषा निकले, वहाँ अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरे कारण भाषा बोली गई; अथवा शब्दों के कारण मुझे वैसा ज्ञान हुआ—ऐसा वह मानता है; किन्तु दोनों के स्वाधीन परिणमन को वह नहीं जानता। प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय नये-नये कारण-कार्यरूप से परिणमित होती है और निमित्त भी नये-नये होते हैं, तथापि उनको परस्पर कार्य-कारणपना नहीं है; अपने कार्य-कारण अपने में और निमित्त के कारण-कार्य निमित्त में। भेदज्ञान से ऐसा वस्तुस्वरूप जाने तो ज्ञान का विषय सच्चा हो, इसलिये सम्यग्ज्ञान हो जाये।

(१७७) भूले हुओं को मार्ग बतलाते हैं, रोगी का रोग मिटाते हैं

ज्ञायकस्वभाव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, उसके बदले क्रमबद्ध को एकान्त-नियत कहकर जो उसका निषेध करता है, वह अपने ज्ञायकत्व का ही इन्कार करता है और केवलज्ञान को उड़ाता है। भाई! तू एकबार अपने ज्ञायकत्व का तो निर्णय कर... ज्ञायक का निर्णय करने से तुझे क्रमबद्ध की प्रतीति भी हो जायेगी; इसलिये अनादिकालीन विपरीत परिणमन छूटकर सीधा सम्यक् परिणमन प्रारम्भ हो जायेगा। इसप्रकार विपरीतमार्ग से छुड़ाकर स्वभाव के सीधे मार्ग पर चढ़ने की यह बात है। जिस प्रकार कोई लग्नमंडप में जाने के बदले श्मशान में जा पहुँचे, उसीप्रकार अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव की लगन लगाकर उसमें एकाग्र होने के बदले, मार्ग

भूलकर 'मैं पर का करूँ'—ऐसी विपरीतदृष्टि से भवभ्रमण के मार्ग पर चढ़ गया है। यहाँ आचार्यदेव उसे ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व बतलाकर सीधे मार्ग (मोक्षमार्ग) पर चढ़ाते हैं। 'मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ'—ऐसी ज्ञायक की लगन छोड़कर, मूढ़ अज्ञानी जीव, पर की कर्ताबुद्धि से, आत्मा की श्रद्धा जहाँ भस्म हो जाती है, ऐसे मिथ्यात्वरूपी श्मशान में जा पहुँचा है। आचार्यदेव उसे कहते हैं कि भाई! तेरा ज्ञायकजीवन है, उसका विरोध करके बाह्यविषयों में एकत्वबुद्धि के कारण तुझे आत्मा की श्रद्धा में क्षयरोग लग गया है, यह तेरा क्षयरोग दूर करने की औषधि है; ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करे तो तेरी कर्ताबुद्धि दूर हो जाये और क्षयरोग मिटे, अर्थात् मिथ्याश्रद्धा दूर होकर सम्यक्श्रद्धा हो। आजकल अनेक जीवों को यह निर्णय करना कठिन होता है, किन्तु यह तो खास आवश्यक है; यह निर्णय किये बिना भवभ्रमण का अनादिकालीन रोग दूर नहीं हो सकता। मेरा ज्ञायकस्वभाव, पर का अकर्ता है; मैं अपने ज्ञायकपने के क्रम में रहकर, क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हूँ—ऐसा निर्णय न करे, उसे अनन्त संसार भ्रमण के कारणरूप मिथ्याश्रद्धा दूर नहीं होती।

(१७८) वस्तु का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ?

भाई! तू विचार तो कर कि वस्तु का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित?

यदि अव्यवस्थित कहें तो ज्ञान ही सिद्ध नहीं हो सकता; अव्यवस्थित परिणमन हो तो केवलज्ञान तीन काल का ज्ञान कैसे करेगा? मन:पर्यय, अवधिज्ञान भी अपने भूत-भविष्य के विषयों को कैसे जानेंगे? ज्योतिषी ज्योतिष काहे की देखेगा? श्रुतज्ञान क्या निर्णय करेगा? हजारों लाखों या असंख्य वर्षों के बाद भविष्य की चौबीसी में यही चौबीस जीव तीर्थंकर होंगे—यह सब किस प्रकार निश्चित होगा? सात वारों में किस वार के बाद कौन-सा वार आयेगा और अट्ठाईस नक्षत्रों में किस नक्षत्र के बाद कौन-सा नक्षत्र आयेगा—यह भी कैसे निश्चित हो सकता है? यदि अव्यवस्थित परिणमन हो तो यह कुछ भी पहले से निश्चित नहीं हो सकता; इसलिये उसका ज्ञान ही किसी को नहीं होगा। किन्तु ऐसा ज्ञान तो होता है, इसलिये वस्तु का परिणमन व्यवस्थित-क्रमबद्ध-नियमबद्ध ही है।

—और व्यवस्थितपरिणमन ही प्रत्येक वस्तु में है, तो फिर-आत्मा उसमें फेरफार कर दे—यह बात भी नहीं रहती; मात्र ज्ञायकत्व ही रहता है। इसलिये तू अपने ज्ञायकपने का निर्णय कर और पर को बदलने की बुद्धि छोड़—ऐसा उपदेश है। पर को अव्यवस्थित मानने से तेरा ज्ञान

ही अव्यवस्थित हो जाता है, अर्थात् तुझे अपने ज्ञान की ही प्रतीति नहीं रहती; और जो ज्ञान की प्रतीति करे, उसे पर को बदलने की बुद्धि नहीं रहती।

(१७९) ज्ञाता के परिणमन में मुक्ति का मार्ग

—ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके, स्वसन्मुख ज्ञाताभावरूप से क्रमबद्ध परिणमित होनेवाले जीव को पर के साथ (कर्म के साथ) कार्य-कारणपना सिद्ध नहीं होता; यह कर्ता होकर अजीव का कार्य भी करे—ऐसा नहीं होता। इसप्रकार जीव अकर्ता है—ज्ञायक है—साक्षी है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर ऐसा ज्ञायकपने का जो परिणमन हुआ, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आ जाते हैं और वही मोक्ष का कारण है।

आठवाँ प्रवचन

[आश्विन शुक्ला ४, वीर सं० २४८०]

भाई! यह बात समझकर तू स्वसन्मुख हो... अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख हो।—इसके सिवा अन्य कोई हित का मार्ग नहीं है। छुटकारे का मार्ग तुझमें ही विद्यमान है, अन्तर के ज्ञायकस्वरूप को पकड़कर उसमें एकता करेगा तो छुटकारे का मार्ग तेरे हाथ में ही है; इसके सिवा बाह्य में लाखों उपाय करने से भी छुटकारा (मुक्ति का मार्ग) हाथ नहीं आ सकता।

(१८०) हे जीव! ज्ञायकरूप ही रह!

आत्मा ज्ञायक है; जड़-चेतन के क्रमबद्धपरिणाम होते रहते हैं, वहाँ उनका ज्ञायक न रहकर पर में कर्तृत्व मानता है, वह जीव अज्ञानी है। यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि—तुझे पर के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है; तू अजीव का कर्ता, अजीव तेरा कार्य—ऐसा नहीं है। जीव और अजीव क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं। जिस समय जो पर्याय होना है, उस समय वही होगी, वह आगे-पीछे या कम-अधिक नहीं हो सकती; द्रव्य स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, तो दूसरा उसमें क्या करे? उसमें दूसरे की अपेक्षा क्या है? इसलिये हे जीव! तू ज्ञायकरूप ही रह। तू ज्ञायक है, पर का अकर्ता है, तू अपने ज्ञातास्वभाव में अभेद होकर निर्विकल्प प्रतीति कर। स्वसन्मुख होकर ज्ञाताभावरूप ही परिणमन कर; किन्तु मैं निमित्त होकर पर का काम कर दूँ—ऐसी दृष्टि छोड़ दे।

(१८१) भाई, तू ज्ञायक पर दृष्टि कर, निमित्त की दृष्टि छोड़!

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि 'निमित्त होकर हम दूसरे का कार्य कर दें'—यह भी विपरीतदृष्टि है। भाई! वस्तु की क्रमबद्धपर्याय जब स्वयं उससे होती है, तब सामने दूसरी वस्तु निमित्तरूप से होती है—इसका नाम निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है; किन्तु अवस्था न होना हो और निमित्त आकर कर दे—ऐसा कोई निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध नहीं है। जड़ और चेतन समस्त द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; इसलिये निमित्त से कुछ होता है—यह बात ही उड़ जाती है। आत्मा, अजीव का कर्ता नहीं है;—इसे समझने का फल तो यह है कि तू पर के ऊपर से दृष्टि उठाकर, अपने अभेद ज्ञायक आत्मा पर दृष्टि रख; स्वसन्मुख होकर आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति कर। 'मैं कर्ता नहीं हूँ, किन्तु निमित्त बनकर पर का कार्य करूँ'—यह बात भी इसमें नहीं रहती, क्योंकि ज्ञायकोन्मुख जीव पर की ओर नहीं देखता,—ज्ञायक की दृष्टि में पर के साथ के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का भी लक्ष छूट गया है; उसमें तो अकेले ज्ञायकभाव का ही परिणमन है। अज्ञानी तो निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध के बहाने कर्ता-कर्मपना मान लेते हैं, उसकी बात तो दूर रही, किन्तु यहाँ कहते हैं कि एकबार पर के साथ के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को भी दृष्टि में से छोड़कर अकेले ज्ञायकस्वभाव को ही दृष्टि में ले, दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके ज्ञायक में एकाग्र कर तो सम्यग्दर्शन हो। ऐसी अन्तर की सूक्ष्म बात है, उसमें 'निमित्त आये तो होता है और निमित्त न आये तो नहीं होता'—ऐसी स्थूल बात तो कहीं दूर रह गई!—उसे अभी निमित्त को ढूंढ़ना है, किन्तु ज्ञायक को नहीं ढूँढ़ना है, अन्तर में ज्ञायकोन्मुख नहीं होना है। जिसे अपने ज्ञायकपने की प्रतीति नहीं है, वह जीव निमित्त बनकर पर को बदलना चाहता है। भाई! परद्रव्य उनकी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं और तू अपनी क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होता है; फिर उसमें कोई किसी का निमित्त होकर उसके क्रम में कुछ फेरफार कर दे-यह बात कहाँ रही! क्रमबद्धपर्याय से रहित ऐसा कौन-सा समय है कि दूसरा कोई आकर कुछ फेरफार करे? द्रव्य में अपनी क्रमबद्धपर्याय से रहित कोई समय नहीं है; इसलिये ज्ञायकोन्मुख होकर तू ज्ञाता रह जा। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो सर्व विपरीत मान्यताओं का नाश हो जाये।

(१८२) क्रमबद्ध परिणमित होनेवाले द्रव्यों का अकार्य-कारणपना

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक जड़ अपने-अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होते हैं; इसप्रकार उत्पन्न होते हुए वे द्रव्य अपने परिणाम के साथ तद्रूप हैं, किन्तु अन्य के साथ उन्हें

कारणकार्यपना नहीं है; इसलिये जीव कर्ता होकर अजीव का कार्य करे—ऐसा नहीं होता, इसलिये जीव अकर्ता है। प्रत्येक द्रव्य अपनी उस-उस समय की क्रमबद्धपर्याय के साथ अनन्य है; यदि दूसरा कोई आकर उसकी पर्याय में हाथ डाले तो उसे पर के साथ अनन्यपना हो जाये, इसलिये भेदज्ञान न रहकर दो द्रव्यों की एकत्वबुद्धि हो जाये। भाई! क्रमबद्धपर्यायरूप से द्रव्य स्वयं उत्पन्न होता है, तो दूसरा उसमें क्या करेगा?—ऐसी समझ, वह भेदज्ञान का कारण है। वस्तुस्वभाव ही ऐसा है, उसमें दूसरा कुछ हो सके, ऐसा नहीं है; दूसरे प्रकार से माने तो मिथ्याज्ञान होता है।

(१८३) भेदज्ञान के बिना निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता

देखो, यह इस शरीर की उँगली ऊँची-नीची होती है, वह अजीव परमाणुओं की क्रमबद्धपर्याय है, और उस पर्याय में तन्मयरूप से अजीव उत्पन्न हुआ है; जीव उस पर्यायरूप से उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिये आत्मा ने उँगली की पर्याय में कुछ किया-यह बात झूठ है। और इसप्रकार छहों द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं-ऐसी स्वतन्त्रता जानकर भेदज्ञान करे, तभी निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान होता है। दूसरी वस्तु आये तो कार्य होता है और न आये तो नहीं होता-ऐसा माने तो वहाँ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, किन्तु कर्ताकर्मपने की मिथ्यामान्यता हो जाती है। दूसरी वस्तु आये तो कार्य होता है—अर्थात् निमित्त से कार्य होता है-ऐसा माननेवाले हैं, वह जीवद्रव्य के क्रमबद्ध स्वतन्त्रपरिणमन को न जाननेवाले, ज्ञानस्वभाव को न माननेवाले, और पर में कर्तृत्व माननेवाले मूढ़ हैं।

(१८४) —किन्तु व्यवहार से तो कर्ता है न.....!

'व्यवहार से तो निमित्त कर्ता है न?' ऐसा अज्ञानी कहते हैं; किन्तु भाई! 'व्यवहार से तो कर्तापना है'—ऐसा जोर देकर तू क्या सिद्ध करना चाहता है? व्यवहार के नाम से तुझे अपनी एकताबुद्धि ही दृढ़ करना है? 'किन्तु व्यवहार से कर्ता' यानी वास्तव में अकर्ता-ऐसा तू समझ। एक वस्तु की क्रमबद्धपर्याय के समय दूसरी वस्तु भी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती हुई निमित्तरूप से भले हो, यहाँ जो पर्याय है, और उसी समय सामने जो निमित्त हे, वे दोनों सुनिश्चित ही हैं।—ऐसा व्यवस्थितपना जो जानता है, उसे 'निमित्त आये तो होता है, और न आये तो नहीं होता'—यह प्रश्न ही नहीं उठता।

(१८५) सम्यग्दर्शन की सूक्ष्म बात

दूसरे-यहाँ तो इससे भी सूक्ष्म बात यह है कि ज्ञायक पर दृष्टि करने से निमित्त-

नैमित्तिकसम्बन्ध की दृष्टि भी छूट जाती है। निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध पर ही जिसकी दृष्टि है, उसकी दृष्टि पर के ऊपर है; और जब तक पर के ऊपर दृष्टि है, तबतक निर्विकल्प प्रतीतिरूप सम्यक्त्व नहीं होता। अकेले ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि में लेकर एकाग्र हो, तभी सम्यग्दर्शन होता है और निर्विकल्प आनन्द का वेदन होता है। —ऐसी दशा बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

(१८६) जिसे आत्महित करना है, उसे बदलना ही पड़ेगा!

अहो! आत्मा के हित की ऐसी श्रेष्ठ बात!! ऐसी बात को एकान्तवाद कहना या गृहीतमिथ्यादृष्टि के नियतवाद के साथ इसकी तुलना करना, वह तो जैनशासन का ही विरोध करने जैसा महान गजब है! 'स्यात्वाद नहीं है, एकान्त है, नियत है, छूत की बीमारी है'—इत्यादि कहकर विरोध करनेवाले सभी को बदलना पड़ेगा; यह बात तीन काल में नहीं बदल सकती। इससे विरुद्ध कहनेवाले भले ही चाहे जैसे महान त्यागी या विद्वान माने जाते हों, तथापि उन सबको बदलना पड़ेगा—अगर उन्हें आत्मा का हित करना है तो।

(१८७) गम्भीर रहस्य का दोहन

आचार्य भगवान ने इन चार गाथाओं में (३०८ से ३११ में) पदार्थस्वभाव का अलौकिक नियम रख दिया है, और श्री अमृतचनद्राचार्यदेव ने टीका भी ऐसी ही अद्भुत की है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने संक्षेप में द्रव्यानुयोग को गंभीरतापूर्वक समा दिया है, और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका में उसका रहस्य खोल दिया है। जिसप्रकार भैंस के पेट में जो दूध भरा हो, वही दुहने से बाहर आता है; उसीप्रकार सूत्र में और टीका में जो रहस्य भरा है, उसी का यह दोहन हो रहा है, जो मूल में है, उसी का यह विस्तार है।

(१८८) सम्पूर्ण द्रव्य को साथ रखकर अपूर्व बात!

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि अजीव के साथ उसे कारण-कार्यपना नहीं है। यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि **''दवियं जं उप्पज्जई''...** अर्थात् प्रतिसमय अपने नये-नये परिणामरूप से द्रव्य ही स्वयं उत्पन्न होता है। पहले समय में कारण-कार्यरूप से जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, वे चारों दूसरे समय में कुलांट मारकर दूसरे समय के कारण-कार्यरूप से परिणमित हो जाते हैं; अकेले परिणाम ही पलटते हैं और द्रव्य नहीं पलटता—ऐसा नहीं है; क्योंकि परिणामरूप से द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है। चक्की के दो पाटों की भाँति द्रव्य और पर्याय में भिन्नत्व नहीं है; इसलिए जिस प्रकार चक्की में ऊपर का पाट घूमता है और नीचे का बिल्कुल

स्थिर रहता है-ऐसा नहीं है। पर्यायरूप से कौन परिणमित हुआ? तो कहते हैं वस्तु स्वयं। आत्मा और उसके अनन्त गुण, प्रतिसमय नई-नई पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं, उस पर्याय में वे तद्रूप हैं। इसलिये पर्याय अपेक्षा से देखने पर, द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव—चारों दूसरे समय पलट गये हैं। द्रव्य और गुणों की अपेक्षा से सदृशता ही है, तथापि पहले समय के जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, वे पहले समय की उस पर्यायरूप से उत्पन्न (परिणमित) हुए हैं, और दूसरे समय में वे द्रव्य-क्षेत्र-भाव तीनों पलटकर दूसरे समय की उस पर्याय से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार क्रमबद्धपर्यायरूप से द्रव्य स्वयं ही परिणमित होता है। दूसरे समय की पर्याय 'ज्यों की त्यों' भले हो, किन्तु द्रव्य की पहले समय जो तद्रूपता थी, वह बदलकर दूसरे समय में दूसरी पर्याय के साथ तद्रूपता हुई है। अहो, पर्याय-पर्याय में सारे द्रव्य को साथ ही साथ लक्ष में रखा है। द्रव्य का यह स्वरूप समझे तो पर्याय-पर्याय में द्रव्य का अवलम्बन वर्तता ही रहे; इसलिये द्रव्य की दृष्टि में निर्मल-निर्मल पर्यायों की धारा बहती रहे... ऐसी अपूर्व यह बात है।

(१८९) मुक्ति का मार्ग

पर्यायरूप से उत्पन्न कौन हुआ? तो कहते हैं द्रव्य। इसलिये अपने को अपने ज्ञायकद्रव्य के सन्मुख ही देखना रहता है; दूसरा आकर इसका कुछ कर दे, अथवा यह किसी दूसरे का कुछ करने जाये, यह बात कहाँ रहती है? भाई! यह बात समझकर तू स्वसन्मुख हो... अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर देख।—इसके सिवा अन्य कोई हित का मार्ग नहीं है। छुटकारे का मार्ग तुझी में विद्यमान है; अन्तर के ज्ञायकस्वरूप को पकड़कर उसमें एकता कर तो छुटकारे का मार्ग तेरे हाथ में ही है; इसके सिवा बाह्य में लाखों प्रयत्न करने से भी छुटकारा (मुक्ति का मार्ग) हाथ नहीं आ सकता।

(१९०) 'ज्ञायक' ही ज्ञेयों का ज्ञाता है

अपने क्रमबद्धपरिणामों में तद्रूप वर्तता हुआ द्रव्य प्रवाहक्रम में दौड़ता ही जाता है; आयतसामान्य अर्थात् दौड़ता-प्रवाह, उसमें तद्रूपता से द्रव्य उत्पन्न होता है। द्रव्य के प्रदेश सब एकसाथ (विस्तार-सामान्य समुदायरूप से) विद्यमान हैं, और पर्याय एक के बाद एक क्रमबद्धप्रवाहरूप से वर्तती है। द्रव्य के क्रमबद्धपरिणमन की धारा को रोकने, तोड़ने या बदलने में कोई समर्थ नहीं है। मैं ज्ञायक, जगत के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जिस प्रकार वे सत् हैं, उसी प्रकार जाननेवाला हूँ;—इसप्रकार अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करने की यह बात है। जो ज्ञायक का निर्णय करे, वही ज्ञेयों को यथार्थरूप से जानता है।

(१९१) यह है, ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व

द्रव्य-क्षेत्र और भाव, पहले समय की उस पर्याय में तद्रूप हैं; वह पर्याय बदलकर दूसरी हुई, तब दूसरे समय की उस पर्याय में तद्रूप हैं।-इसप्रकार वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव चारों प्रति समय पलटकर नई-नई अवस्थारूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये उसी पर्याय के साथ उन्हें कारण-कार्यपना है, किन्तु दूसरी के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। देखो, यह ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व!

(१) ज्ञायकभाव, पर से तो भिन्न,

(२) रागादिक भावों से भी भिन्न,

(३) एक पर्याय, आगे-पीछे की दूसरी अनंत पर्यायों से भिन्न

(४) एक गुण दूसरे अनन्त गुणों से भिन्न, और

(५) द्रव्य-गुण की पहले समय में जिस पर्याय के साथ तद्रूपता थी, वह तद्रूपता दूसरे समय नहीं रही, किन्तु दूसरे समय दूसरी पर्याय के साथ तद्रूपता हुई है।

—देखो यह सत्य का श्रद्धान होने की रीति! यह बात लक्ष में लेने से सम्पूर्ण ज्ञायकद्रव्य दृष्टि के समक्ष आ जाता है।

(१९२) 'जीवंत वस्तुव्यवस्था और ज्ञायक का जीवन'—उसे जो नहीं जानता, वह मूढ़ 'मरे हुए को जीवित, और जीवित को मरा हुआ मानता है।'

जिस प्रकार कोई अज्ञानी प्राणी मुर्दे को जीवित मानकर उसे जिलाना चाहे—खिलाना-पिलाना चाहे, तो कोई मुर्दा जीवित नहीं हो सकता और उसका दुःख दूर नहीं हो सकता; (यहाँ रामचन्द्रजी का उदाहरण नहीं देते, क्योंकि रामचन्द्रजी तो ज्ञानी सम्यक्त्वी थे), किन्तु मुर्दे को मुर्दारूप से जाने तो उसकी भ्रमणा का दुःख दूर हो। उसी प्रकार परवस्तु के साथ कर्ता-कर्मपने का अत्यन्त अभाव ही है, (मुर्दे की भाँति), तथापि जो ऐसा मानता है कि-पर का भी करता हूँ; वह अभाव को अभावरूप न मानकर, पर का अपने में सद्भाव मानता है; उस विपरीत मान्यता से वह दुःखी ही है।

अथवा, जिस प्रकार कोई जीवित को मरा हुआ माने तो वह मूढ़ है; उसी प्रकार आत्मा ज्ञायकस्वभाव से जीवित है, ज्ञायकपना ही उसका जीवन है; उसके बदले जो उसे पर का कर्ता मानता है, वह ज्ञायकजीवन का घात करता है; इसलिये वह महान हिंसक है और परवस्तु भी

जीवित (स्वयं परिणमित) है; उसके बदले मैं उसे परिणमित करता हूँ—ऐसा जिसने माना, उसने परवस्तु को जीवित नहीं माना, किन्तु मरा हुआ अर्थात् परिणमनरहित माना है। स्वतन्त्र परिणमित वस्तु का जो पर के साथ कर्ता-कर्मपना मानता है, वह जीवंत वस्तुव्यवस्था को नहीं जानता। समयसार गाथा ३५६ से ३६५ की टीका में भी कहा है कि—'जिसका जो हो, वह वही होता है; जैसे कि-ज्ञान, आत्मा का होने से ज्ञान, आत्मा ही है'—ऐसा तात्त्विकसम्बन्ध जीवंत है। देखो, यह जीवंत सम्बन्ध! आत्मा का अपने ज्ञानादि के साथ एकता का सम्बन्ध जीवंत है, किन्तु पर के साथ कर्ताकर्मपने का सम्बन्ध किंचित् भी जीवंत नहीं है। यदि परद्रव्य आत्मा का कार्य हो, अर्थात् आत्मा पर का कार्य करे तो वह परद्रव्य, आत्मा ही हो जाये; क्योंकि जो जिसका कार्य हो, वह उससे पृथक् नहीं होता, किन्तु ज्ञायक आत्मा का पर के साथ ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि जो पर के साथ कर्ताकर्म का सम्बन्ध मानता है, वह ज्ञायकजीवन का घात कर देता है और मुर्दे को जीवित करना चाहता है, वह मूढ़-मिथ्यादृष्टि है। सभी द्रव्य स्वयं परिणमित होकर अपनी क्रमसर पर्यायों में तद्रूपतापूर्वक वर्तते हैं—ऐसी जीवंत वस्तुव्यवस्था है; उसके बदले दूसरे के द्वारा उसमें कुछ फेरफार होना माने, तो उससे कहीं वस्तुव्यवस्था तो नहीं बदल जायेगी, किन्तु वैसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि होगा।

चारों ओर से एक ही धारा की बात है; किन्तु जो पात्र होकर समझना चाहे, उसकी समझ में आती है। द्रव्य के क्रमबद्धप्रवाह को कोई दूसरा बीच में आकर बदल दे-ऐसा जीवंत वस्तु में नहीं है, इसलिये स्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकभावरूप परिणमित हुआ, उसे ज्ञायकभाव की परिणमनधारा में बीच में राग का कर्तृत्व आ जाये-ऐसा ज्ञायक के जीवन में नहीं है; तथापि ज्ञायक को राग का कर्ता माने तो वह जीवंत वस्तु को नहीं जानता—ज्ञायक के जीवन को नहीं जानता।

ज्ञायक जीव को अपने निर्मल ज्ञानपरिणाम का कर्तापना हो—ऐसा सम्बन्ध जीवित है, किन्तु ज्ञायक जीव को अजीव का कर्तृत्व हो—ऐसा सम्बन्ध जीवित नहीं है। ज्ञानी को ज्ञायकभाव के साथ का सम्बन्ध जीवित है और मोह के साथ का सम्बन्ध मर गया है—ऐसा ज्ञाता का जीवन है!

(१९३) कर्ताकर्मपना अन्य से निरपेक्ष है, इसलिये जीव अकर्ता है, ज्ञायक है

आचार्यदेव कहते हैं कि जीव-कर्ता और अजीव उसका कर्म-ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कर्ता-कर्म की अन्य से निरपेक्षतया सिद्धि है; एक वस्तु के कर्ता-कर्म में बीच

में दूसरे की अपेक्षा नहीं है। क्रमबद्ध अवस्थारूप से उत्पन्न होनेवाला द्रव्य ही कर्ता होकर अपने पर्यायरूप कर्म को करता है; वहाँ 'यह हो तो ऐसा हो'—इस प्रकार अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। पर की अपेक्षा के बिना अकेले स्वद्रव्य में ही कर्ता-कर्म की सिद्धि हो जाती है, यह निश्चय है।—ऐसी निश्चय वस्तुस्थिति का ज्ञान हो गया, तब दूसरे निमित्त को जानना, वह व्यवहार है। वहाँ भी, इस वस्तु का कार्य तो उस निमित्त से निरपेक्ष ही है—निमित्त के कारण इस कार्य में कुछ हुआ-ऐसा नहीं है। व्यवहार से निमित्त को कर्ता कहा जाता है, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि उसने कार्य में कुछ भी कर दिया! 'व्यवहार-कर्ता' का अर्थ ही 'वास्तव के अकर्ता' है। कर्ता-कर्म अन्य से निरपेक्ष हैं, इसलिये निमित्त से भी निरपेक्ष हैं; अन्य किसी की अपेक्षा बिना ही पदार्थ को अपनी पर्याय के साथ कर्ता-कर्मपना है। प्रत्येक द्रव्य के छहों कारक (कर्ता-कर्म-करणादि) अन्य द्रव्यों से निरपेक्ष हैं और अपने स्वद्रव्य में ही उनकी सिद्धि होती है। कर्ता-कर्म-करण-संप्रदान-अपादान और अधिकरण-यह छहों कारक जीव के जीव में हैं और अजीव के अजीव में हैं।-ऐसा होने से जीव और अजीव का कर्तापना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, किन्तु जीव अकर्ता ही है-ज्ञायक ही है-ऐसा बारबार सिद्ध होता है। इस प्रकार आचार्यदेव ने जीव का अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

(१९४) यह 'क्रमबद्धपर्याय के पारायण का सप्ताह' आज पूरा होता है...

(१९५) यह समझ ले उसे क्या करना चाहिये ? - सारे उपदेश का निचोड़!

प्रश्न : लेकिन यह बात समझने के बाद क्या ?

उत्तर : भीतर ज्ञायक में स्थिर होना, इसके सिवा और क्या करना है ? क्या तुझे बाह्य में उछल-कूद करना है ? या पर का कुछ कर देना है ? यह ज्ञायकस्वरूप समझने से स्वयं ज्ञायकसन्मुख होकर ज्ञातारूप से रहा, और राग के कर्तारूप नहीं हुआ-यही इस समझ का फल है। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा समझा, वहाँ ज्ञायक क्या करेगा ? ज्ञायक तो ज्ञातादृष्टापने का ही कार्य करता है। ज्ञायक को पर का या राग का काम करने का जो मानता है, वह ज्ञायकस्वभाव को समझा ही नहीं है और न क्रमबद्धपर्याय को समझा है। भाई! ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर उसमें एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक की क्रमबद्धपर्याय विकसित होती जाती है,—और यही सभी उपदेश का निचोड़ है। सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार की इन चारों गाथाओं में आचार्यदेव ने सारा निचोड़ भर दिया है। 'सर्वविशुद्धज्ञान' अर्थात् ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा! उसकी प्रतीति कर, और क्रमबद्धपर्याय को यथावत् जान।

(१९६) ज्ञायक भगवान जागृत हुआ... वह क्या करता है ?

इस ज्ञायक की प्रतीति की, वहाँ उस ज्ञायकभूमि में ही पर्याय उछलती है, ज्ञायक का ही आश्रय करके निर्मलरूप से उत्पन्न होती है, किन्तु रागादि का आश्रय करके उत्पन्न नहीं होती। ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता हुई, वहाँ पर्याय उछलती है–अर्थात् निर्मल–निर्मलरूप से बढ़ती ही जाती है। अथवा द्रव्य उछलकर अपनी निर्मल क्रमबद्धपर्याय में कूदता है,–उस पर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है, किन्तु कहीं बाह्य में नहीं कूदता। पहले ज्ञायक के भान बिना मिथ्यात्वदशा में सोता था, उसके बदले अब स्वसन्मुख होकर, ज्ञायकभगवान जागृत हुआ, वहाँ वह अपनी निर्मल पर्याय में उछलने लगा; अब बढ़ती हुई निर्मल पर्याय में कूदते–कूदते वह केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

(१९७) 'क्रमबद्ध' के ज्ञाता को मिथ्यात्व का क्रम नहीं होता

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय अज्ञानी को भी है न ?

उत्तर : भाई ! इस प्रश्न का उत्तर यह कि ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप जो समझे, उसे अपने में अज्ञान रहता ही नहीं। वह ऐसा जानता है कि ज्ञानी को, अज्ञानी को या जड़ को—सभी को क्रमबद्धपर्याय है; किन्तु उसमें:—

—ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से निर्मल–निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है;

—अज्ञानी को विपरीत दृष्टि में मलिन क्रमबद्धपर्याय होती है, और

—जड़ की क्रमबद्धपर्याय जड़रूप होती है।

—ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को अपने में तो मिथ्यात्वादि मलिन पर्याय का क्रम रहता ही नहीं है, क्योंकि उसका पुरुषार्थ तो अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ढल गया है; इसलिये उसे तो सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय का क्रम प्रारम्भ हो गया है। यदि ऐसी दशा न हो तो वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय का रहस्य नहीं समझा है—मात्र बातें करता है।

(१९८) 'चैतन्यचमत्कारी हीरा'

यहाँ आचार्यभगवान ने जीव को उसका ज्ञायकपना समझाया है–भाई ! तेरा आत्मा ज्ञायक है... 'चैतन्यचमत्कारी हीरा' है; तेरा आत्मा प्रतिसमय ज्ञाता–दृष्टापने की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होकर जाने–ऐसा ही तेरा स्वभाव है। किन्हीं परपदार्थों की अवस्था को बदलने का स्वभाव नहीं है; इसलिये पर की कर्ताबुद्धि छोड़ और अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकरूप ही रह।

(१९९) चैतन्यराजा को ज्ञायकभाव की राजगद्दी पर बिठाकर सम्यक्त्व का तिलक होता है, वहाँ विरोध करके पर को बदलना चाहता है, उसके दिन फिरे हैं!

अहो, ऐसी परम सत्य बात समझाकर आचार्यदेव आत्मा को उसके ज्ञायकस्वभाव की राजगद्दी पर बिठाते हैं... आत्मा में सम्यक्त्व का तिलक करते हैं... किन्तु विपरीतदृष्टिवाले मूढ़ जीव ऐसी सत्य बात का विरोध करते हैं; उन्हें ज्ञायकरूप से नहीं रहना है, किन्तु पर के कर्तृत्व का अभिमान करके अभी संसार में भटकना है। राजा नवघण को एकबार एक सुन्दर चारण युवती तिलक करने आई। उस समय उस सुन्दरी का रूप देखकर राजा की दृष्टि बिगड़ी; इसलिये जब वह युवती तिलक करने लगी कि राजा ने अपना मुँह दूसरी दिशा में फेर लिया। युवती दूसरी दिशा में गई तो राजा ने तीसरी दिशा में मुँह कर लिया। अन्त में उस युवती ने अपनी सास से कहा कि—माताजी, 'राय तो फिरते हैं।' उसकी सास, राजा का हृदय समझ गई, इसलिये उसने उत्तर दिया कि—'बेटा! राय नहीं फिरते... राय के दिन फिरते हैं।'

उसीप्रकार यहाँ श्रीगुरु, जीव को उसके ज्ञायकस्वभाव के सिंहासन पर बिठाकर, तीनलोक के ज्ञानसाम्राज्य का राजतिलक करते हैं... 'अरे जीव! अन्तर में ज्ञायकभगवान की प्रतीति करके राजगद्दी पर बैठने का (उत्कृष्ट स्वभाव में एकाग्र होने का) अवसर आया है; सम्यग्दर्शनरूपी राजतिलक करने का सुअवसर आया है... अरे चैतन्यराजा! बैठ अपने ज्ञायकस्वभाव की गद्दी पर... यह तुझे राजतिलक होता है।'

वहाँ जिन्हें विकार की रुचि है-ऐसे विपरीत दृष्टिवाले मूढ़ जीव (राज नवघण की भाँति मुँह फेरकर) कहते हैं कि—'अरे! ऐसा नहीं... ऐसा नहीं... हम तो पर को बदल देंगे...' यानी उन्हें ज्ञायकरूप से नहीं रहना है, किन्तु विकारीदृष्टि रखकर पर को बदलना है। किन्तु अरे मूढ़ जीवों! तुम किसी की पर्याय नहीं बदल सकते, तुम ज्ञायकसन्मुख नहीं होते और पर की ओर मुँह फेरते हो; इसलिये तुम्हारे दिन फिरे हैं—तुम्हारी दृष्टि विपरीत हुई है। ज्ञायकस्वभाव की राजगद्दी पर बैठकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तिलक करने का अवसर आया, उस समय ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति करके स्वसन्मुख होने के बदले अज्ञानी जीव उसे विपरीत मानते हैं और 'एकान्त है रे! एकान्त है....' ऐसा कहकर विरोध करते हैं। अरे! उनके दिन फिरे हैं; ज्ञायकोन्मुख होकर निर्मल परिणामरूप होना चाहिये, उसके बदले वे मिथ्यात्व का पोषण करते हैं; इसलिये उनके दिन फिरे हैं।

(२००) 'केवली के नन्दन' बतलाते हैं-केवलज्ञान का पन्थ

भगवान! तेरा आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप है; वह ज्ञायक, रागादि भावों का अकर्ता है। ज्ञायकोन्मुख होने से जो ज्ञानभाव प्रगट हुआ तथा अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन प्रगट हुआ, उसका कर्ता-भोक्ता आत्मा है, किन्तु रागादि या कर्म का कर्ता-भोक्तापना उसमें नहीं है। ऐसे चैतन्यमूर्ति ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके ज्ञातादृष्टारूप रहना और उसमें स्थिर होना-यही करना है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाता होकर अपने में स्थिर हुआ, वहाँ जीव, रागादि का अकर्ता ही है और कर्म का भी अकर्ता है, वह कर्मबंधन का निमित्तकर्ता भी नहीं है; इसलिये उसे बन्धन होता ही नहीं;—अब ज्ञायकस्वभावसन्मुख रहकर ज्ञाता-दृष्टापने के निर्मल-निर्मल परिणामोंरूप परिणमित होने से उसके रागादि सर्वथा दूर हो जायेंगे और केवलज्ञान प्रगट हो जायेगा—यही केवलज्ञान का पंथ है।●●

जय हो
ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख ले जाकर 'सर्वज्ञशक्ति'
की... और 'क्रमबद्धपर्याय' की प्रतीति करानेवाले
केवलीप्रभु के लघुनन्दन श्री कहानगुरुदेव की
जय हो.....
ज्ञायकमूर्ति की जय हो.....

सूचना

इस अंक के साथ ही 'आत्मधर्म' का दसवाँ वर्ष पूरा हो रहा है, अतः ग्राहकों से निवेदन है कि आगामी वर्ष के लिये शीघ्र मनीआर्डर द्वारा ३) रुपये भेजकर ग्राहक बन जायें! यदि जिन महानुभावों को किसी कारण से आगामी वर्ष ग्राहक न रहना हो, तो पत्र द्वारा अवश्य सूचित कर दें 'जिससे स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़' को व्यर्थ ही आर्थिकक्षति न हो। वी.पी. से अंक मंगाने में नौ आने अधिक खर्च होंगे।

यदि किसी महाशय ने मनीआर्डर भेज दिया हो और कार्यालय से वी.पी. हो गई हो, तो उसे स्वीकार कर सूचित कर दें, जिससे आगामी वर्ष के लिये शुल्क निश्चित हो जाये।

'क्रमबद्धपर्याय-प्रवचन दूसरा भाग' ज्येष्ठ मास के अंक नं. १२२ में प्रकाशित हो रहा है।

—प्रकाशक

सम्यक्त्वी की परिणति

मैं अखण्ड ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप हूँ—ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन हुआ हो, उसके स्वभावसन्मुख उद्यम बना ही रहता है; वह स्वच्छन्दरूप से रागादि में प्रवर्तन नहीं करता; अभी अल्प विकार होता अवश्य है, किन्तु रुचि की सन्मुखता तो ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर ही रहती है;—विकार की रुचि नहीं है—भावना नहीं है, इसलिये स्वच्छन्दरूप से विकार होता ही नहीं। जिसे अन्तर्दृष्टि हुई है, ऐसे सम्यक्त्वी के तो ऐसी परिणति सदैव वर्तती ही रहती है।

—किन्तु जिसके अभी अन्तर्स्वभाव के सन्मुख दृष्टि नहीं है, विकार की रुचि दूर नहीं हुई है और अपने को सम्यक्त्वी मान कर स्वच्छन्दरूप से रागादि में वर्तता है—ऐसे निश्चयाभासी जीव को ज्ञानी समझाते हैं कि अरे भाई! अपने परिणाम का तू विवेक कर।

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	मूल में भूल	।।।)
समयसार प्रवचन भाग २	५)	मुक्ति का मार्ग	।।=)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	अनुभवप्रकाश	॥)
समयसार (हिंदी)		अष्टपाहुड़	३)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	चिद्विलास	१=)
प्रवचनसार हिंदी		दसलक्षणधर्म	।।।)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	जैन बालपोथी	।)
आत्मावलोकन	१)	लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका	।) ।।
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१ ।=)	सम्यक्दर्शन	२)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	स्तोत्रत्रयी	।=)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार पद्यानुवाद	।)	पंचमेरु पूजन	।।।)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=) ॥		
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)		

आत्मधर्म फाइलें
१-२-३-५-६-७ वर्ष — प्रत्येक का ३॥)

कुछ फाईलों का मूल्य २२॥) होता है लेकिन एक साथ लेने पर १७॥)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर।
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये-जमनादास माणेकचंद रवाणी।